संस्कृति-केन्द्र उज्जयिनी

लेखक

ब्रजकिशोर चतुर्वेदी

बी० ए०, एल्-एल्० बी०, बार-एट-ला
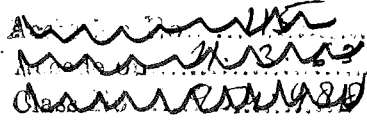
प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशन्स), लिमिटेड, प्रयाग

१९५५

मूल्य ३)
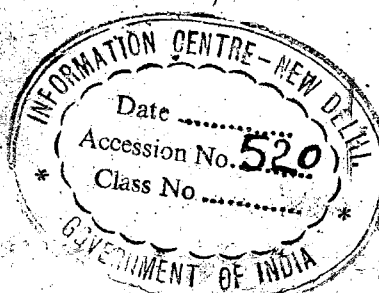
श्री महाकालेश्वरार्पणमस्तु
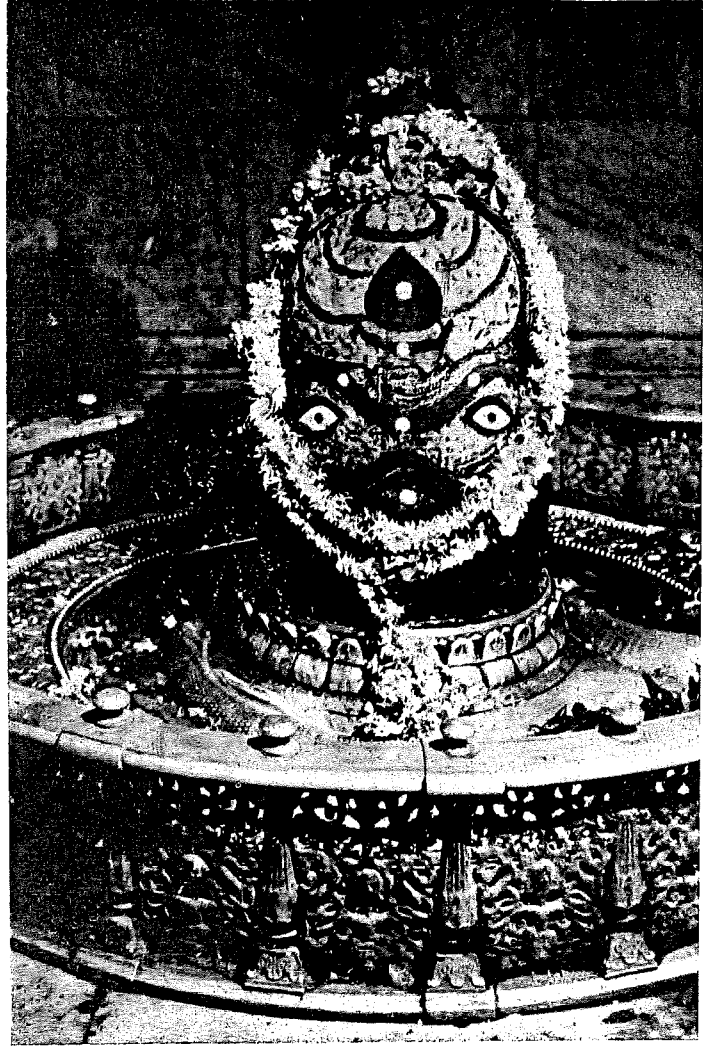
श्री महाकालेश्वर——(सायं सन्ध्या-पूजा के समय शृंगारयुक्त)

भूमिका

समय समय पर लिखे गए उज्जैन से संबंधित मेरे लेखों का इस पुस्तक में संकलन किया गया है। संस्कृत साहित्य के इतिहास एवं संस्कृत नाटकों पर लिखी गई अँगरेजी पुस्तकों के अध्ययन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि महाकाल की नगरी, प्राचीन काल में, धार्मिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं थी अपितु व्यापारिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। वास्तव में, प्राचीन उज्जयिनी, शिक्षा, साहित्य एवं शास्त्र की धात्री रही थी। उज्जयिनी के अपने निवास के समय, विक्रम द्विसहस्राब्दी के शुभ अवसर पर, मैं इस संबंध में एक निबन्ध लिखना चाहता था किन्तु वह निबन्ध पूरा नहीं हो पाया। उससे संबंधित साहित्य का अध्ययन भी आज तक पूरा नहीं हो पाया। जितनी पुस्तकों का अध्ययन मैंने उन दिनों किया था उनके आधार पर छोटी-छोटी टिप्पणियाँ मैं लिखता जाता था जो, कुछ परिवर्तित रूप में, ग्वालियर राज्य द्वारा प्रकाशित हिन्दी 'विक्रम-स्मृति-ग्रंथ' में भेज दी गई थीं। उस ग्रंथ में यह लेख दो भागों में प्रकाशित किए गए। प्रथम में "विक्रम के नवरत्न" शीर्षक से; एवं द्वितीय में "प्राचीन उज्जयिनी से संबंधित कुछ महान् व्यक्ति" शीर्षक से। इस पुस्तक के प्रथम भाग में "विक्रम के नवरत्न" के अतिरिक्त विक्रम-स्मृति-ग्रंथ के दूसरे भाग के महाराज चंडप्रद्योत, महाक्षत्रप रुद्रदामा, वाक्पतिराज मुंज, एवं राजा भोज संबंधी निबन्ध रख दिए गए हैं। शेष तृतीय भाग में मिलेंगे। कालिदास संबंधी लेख 'वीणा' (इन्दौर) में प्रकाशित हुआ था और "वेधशाला के निर्माण कर्त्ता" शीर्षक लेख 'जयाजी प्रताप' (ग्वालियर) के एक विशेषांक में छापा गया था। ये लेख जनसाधारण के लिए लिखे हुए होने के कारण सन्दर्भ ग्रन्थों के पृष्ठों का उल्लेख कर के लेखों को बोझिल बनाना उचित नहीं समझा गया था और इतने दिनों बाद अब उल्लेख करना असंभव-सा ही है। जो कथा अथवा जो तथ्य जहाँ से लिए गए हैं उस ग्रंथ अथवा मासिक पत्रिका का कहीं कहीं उल्लेख कर दिया गया है। उन सभी लेखकों एवं ग्रंथकारों का मैं आभारी हूँ। 'मेघदूत' अथवा 'कादंबरी' के लेख कहीं प्रकाशित नहीं हो पाए; वैसे के वैसे ही पड़े रहे। और अब द्वितीय भाग में छापे गए हैं।

प्रथम चार लेख, हिन्दी विक्रम-स्मृति-ग्रंथ प्रकाशित होने के अनन्तर संशोधित किए गए थे। "उज्जैन के धार्मिक महत्त्व" के लेख में श्रीसूर्यनारायण व्यास,

ज्योतिषाचार्य, के 'मानवलोकेश्वर महाकाल', श्री नारायण कृष्ण सोर्टी के 'उज्जैन की पौराणिकता', श्री शास्त्री रामप्रसाद त्रिपाठी के 'पौराणिक अवन्तिका' और प्रो० दयाशंकर दुबे एवं रा० प्र० त्रिपाठी के "क्षिप्रा की महिमा" पर लिखे गए लेखों से मुझे सहायता मिली है। अतएव मैं इन लेखकों का आभारी हूँ। "विक्रम समस्या" पर डाक्टर राजबली पांडेय की अँगरेजी पुस्तक 'विक्रमादित्य ऑफ् उज्जयिनी' सर्वोत्तम है। हिन्दी विक्रम स्मृति-ग्रंथ में डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप, श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ, श्री जगनलाल गुप्त, श्री हरिहरनिवास द्विवेदी एवं डाक्टर दिनेशचन्द्र सरकार के लेखों से, संशोधन में, मैंने सहायता ली है। अतः इन सज्जनों को धन्यवाद देता हूँ। उज्जैन के इतिहास पर श्री बिमलाचरण ला की अँगरेजी पुस्तिका "उज्जयिनी इन एन्शियन्ट इंडिया" उत्तम है। कैप्टेन सी० ई० लूआर्ड (Luard) का ग्वालियर स्टेट गजैटियर (प्रथम जिल्द) से भी प्राचीन इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। हिन्दी विक्रम-स्मृति-ग्रंथ में श्री भगवतशरण उपाध्याय का 'प्रथम शती का संक्षिप्त इतिहास' श्री डा० त्रिपाठी का 'समुद्रगुप्त', डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी का "चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य" एवं श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव के "मालवा के शासक" संबंधी अच्छे लेख हैं। इन सबसे मुझे सहायता मिली है। "वेधशाला" संबंधी मेरा लेख अधिकतर जी० आर० काये की "ए गाइड टू दी आवजरवेटरीज" पर आधारित है। मेरे यह सारे लेख सन् १९४६ तक लिखे जा चुके थे अतः उसके अनन्तर कोई नया ऐतिहासिक अनुसन्धान हुआ हो तो उसका लाभ मुझे नहीं मिल पाया।

अन्तिम लेख में 'आधुनिक उज्जैन' पर कुछ सूचना देनी मैंने उचित समझी है। इसके लिखने में मुझे मध्यभारत शासन के जन-गणना विभाग, सूचना विभाग एवं शिक्षा विभाग से बहुत सहायता मिली है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। हिन्दी विक्रम-स्मृति-ग्रंथ में प्रकाशित श्री गंगाधर मंगेश नाडकर्णी के 'उज्जैन में उत्खनन' एवं श्री ठाकुर उत्तमसिंह जी के "उज्जैन के दर्शनीय स्थान" संबंधी लेखों से भी मुझे सहायता मिली है अतः इन सभी लेखकों का मैं आभारी हूँ। ज्योतिषाचार्य श्री सूर्यनारायणजी व्यास ने समय समय पर मुझे उज्जैन संबंधी पुस्तकें भिजवाने, कुछ सुझाव देने, एवं इस ग्रंथ के नामकरण में सहायता देने की कृपा की है। इस पुस्तक के लिए कुछ चित्र भी मुझे उन्हीं से एवं तथा कुछ चित्र सूचना विभाग से मिले हैं इसलिए मैं उनका आभार प्रदर्शन करता हूँ।

इस पुस्तक का प्रथम लेख कुछ दूसरे रूप में लिखा गया था किन्तु डाक्टर मोतीचन्द्र के 'सार्थवाह' के अभी हाल में प्रकाशित हो जाने पर मुझे प्रथम लेख में बहुत संशोधन करना पड़ा। अब यह लेख अधिकतः

'सार्थवाह' पर आधारित है। 'सार्थवाह' सी पुस्तक हिन्दी भाषा का नाम उज्ज्वल करेगी; इसमें सन्देह नहीं। उसे पढ़कर यह प्रसन्नता हुई थी कि उसके यशस्वी लेखक ने प्राचीन भारत के जल एवं स्थल-मार्गों का विशद विवेचन करके प्राचीन राज-मार्गों पर भरपूर प्रकाश डाला है। किन्तु प्रतीत यह होता है कि कुछ संकोच के कारण, अथवा, किसी और कारणवश, लेखक महोदय ने आकाश-मार्गों की ओर दृष्टि दौड़ानी उचित नहीं समझी। "कथा सरित् सागर" से तो यही प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में वायुयान थे और उनके निश्चित मार्ग भी थे। संभवतया उन्हीं निश्चित मार्गों में से एक मार्ग पर 'मेघदूत' में कालिदास ने अपने 'मेघ' को अलका भेजा था। वायुयान में बैठकर, आकाश में उड़ते हुए, नीचे देखने पर, वर्षा ऋतु में, नर्बदा एवं वेतवा सरीखी नदी भी पतली लकीर सी मालूम देती हैं। कालिदास ने निर्विन्ध्या नदी की पतली जलधारा एक वेणी सी बताकर (देखिए इस पुस्तक का पृष्ठ ६८) और चम्बल की बड़ी धारा को बड़ी पतली मोतियों की माला (पृष्ठ ८३) बताकर उस अनुभव का परिचय दिया है जो वायुयान में बैठकर उड़ने से उन्हें प्राप्त हुआ होगा। 'राजा भोज' के निबंध में मैंने 'समरांगण-सूत्रधार' के उस अंश पर ध्यान आकर्षित किया है जिसमें वायुयान बनाने की विधि बताई गई है (पृष्ठ ६१)। यदि वायुयान थे ही नहीं तो उनके बनाने एवं उनमें 'पारद' रखने एवं उनके गर्जना करते हुए उड़ने का वर्णन कैसे किया जा सकता था? यही नहीं, कहीं कहीं, मनुष्यों के उड़ने के भी वर्णन प्राचीन साहित्य में पाए जाते हैं। योग-साधना द्वारा तांत्रिकों के लिए यह असंभव बात नहीं थी। प्राचीन भारत में, तीव्रातितीव्र गति से जानेवाले यातायात के बाहनों का भी अभाव न था (देखिए पृष्ठ १९)। महायान तंत्र के काल में अनेकानेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए थे। पारद एवं जसद का बोलबाला था (पृष्ठ ३७, ३८)। अवश्य; इस संबंध में अनुसंधान की बड़ी आवश्यकता है। कहा जाता है महा-रसायनिक व्याड़ि ने औषधियों का एक लेप तैयार किया था जिससे वह आकाश में विचरने लगे थे (पृष्ठ ९९)। जो कुछ भी हो, इन विषयों पर हमारा ज्ञान अब भी अपर्याप्त है।

वयोवृद्ध साहित्यवाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के 'मेघदूत' के अनु-वाद से भी मैंने अत्यधिक सहायता ली है अतः उनका मैं आभार मानता हूँ।

उज्जैन का साहित्यिक इतिहास एक अगाध सागर की भाँति है जिसकी गहराई में जाने की मेरी क्षमता नहीं है। मैंने तो किनारे से ही कुछ रत्न उठाकर यह पुस्तक सजा ली है। यदि इस पुस्तक को पढ़कर मालवा में, इति-

हास के प्राध्यापक एवं स्नातक, गहराई में जाकर, ऐतिहासिक खोज करने का सच्चा प्रयत्न करेंगे तो मैं अपने थोड़े से परिश्रम को सफल समझूंगा।

ये लेख लगभग ७, ८ वर्ष से पड़े हुए थे। अधिकतः हिन्दी विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ, 'वीणा' (इन्दौर) और अन्य पत्रों में छप चुके थे। किन्तु पुस्तकाकार होने का कोई योग नहीं आ रहा था। पूज्य बंधुवर पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी एम० ए० (लन्दन) की कृपा से ही यह पुस्तक मुद्रित हो पाई है। उन्होंने समय समय पर कुछ लाभदायक सुझाव भी दिए हैं। यह समझ में नहीं आता कि किन शब्दों में उनका आभार व्यक्त करूँ? इंडियन प्रेस ने भी बड़ी शीघ्रता से पुस्तक छापकर मुझे अनुगृहीत किया है। श्री सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे एम० ए० ने मेरे लेखों के 'रिप्रिन्टस्' में अशुद्धियों का संशोधन किया था और श्री कुंजबिहारी व्यास ने इस पुस्तक के 'प्रूफ' देखने का कष्ट उठाया है। मैं इन सज्जनों को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

लेख पुराने होने के कारण, संभव है उनमें कुछ ऐसी बातें आ गई होंगी जिनसे समझने में कुछ भ्रम उत्पन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ पृष्ठ ४ पर 'पीकस्थान' का उल्लेख है। शुद्ध रूप पीठस्थान है। पृष्ठ ८ पर 'आवन्ती' शब्द जहाँ पृथक् देश का सूचक हो सकता है वहाँ "अवन्तीम्—अभिव्याप्य" अवन्ती सहित उसके आस-पास के स्थानों को देखने के अर्थ का सूचक भी माना जा सकता है। पृष्ठ ७२ पर गन्धवती के स्रोत का उल्लेख है। यह स्रोत शिप्रा के माध्यम द्वारा रुद्रसागर में आता होगा। शिप्रा के तट पर, उत्तर की ओर, पौराणिक प्रसिद्ध 'गन्धर्वती-कुण्ड' आज भी विद्यमान है। यह भाग 'गंधवती' आज भी कहलाता है। रुद्रसागर में गंधवती का स्रोत सूख चुका है। बरसात में गंदला पानी अवश्य एकत्रित हो जाता है जिसे 'गन्धा (गन्दा) नाला' कहकर पृष्ठ ७२ पर बतलाया गया है; किन्तु इस पानी और गन्धवती के स्रोत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अन्त में, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद और डॉ० मोतीचन्द्र को मैं धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने 'सार्थवाह' से सहायता लेने की मुझे अनुमति प्रदान की है।

१८ गांधी रोड
ग्वालियर

ब्रजकिशोर चतुर्वेदी

—

विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

तृतीय भाग

चित्र-सूची

हरसिद्धि-मन्दिर के दीपस्तम्भ

संस्कृति-केन्द्र उज्जयिनी

प्रथम भाग

१—प्राचीन उज्जयिनी का व्यापारिक महत्त्व

उज्जयिनी अवन्ति देश की राजधानी थी। अवन्ति को 'आकरावन्ती' अथवा 'आकरावती' भी कहते थे। जहाँ 'आकर' (पत्थरों की खदानें) अधिक हों उसे 'आकरावन्ती' कहते होंगे। उज्जैन से बयालीस मील उत्तर-पूर्व दिशा में 'आगर' स्थान है जो "उज्जैन-आगर" रेलमार्ग पर अन्तिम स्टेशन है। हमारा अनुमान यह है कि आकरावन्ती में 'आगर' एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा। सन् १९४३ ई० में उज्जैन शाखा के कैनेडियन मिशन के तत्कालीन प्रधान रैवरेण्ड श्री ए० रसल ग्रैहम (A. Russel Graham) ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि उज्जैन से आगर तक की भूमि में नाना प्रकार के पत्थर और नाना प्रकार के रत्न भरे पड़े हैं। ये सज्जन बहुधा मोटर से आगर जाया करते थे और राह में घंटों पत्थर खोजा करते थे। सदा ही ये नये-नये पत्थर लाया करते थे और उनको नग रूप में लाकर अँगूठियों में जड़ा करते थे। 'आकरावन्ती' के स्मृति रूप ऐसे पचासों प्रकार की सुन्दर नगों से जड़ी हुई अँगूठियाँ इन सज्जन के पास सदा ही हमने देखी थीं। ईसवी प्रथम शताब्दी के एक यूनानी नाविक द्वारा लिखी हुई "प्रैरिप्लस आफ दी एरिथ्रियन सी (Periplus of the Erythrean sea) और ईसवी दूसरी शताब्दी के टालेमी (Ptolemy) के लिखे हुए उद्धरणों में भी उज्जैन के इन सुन्दर पत्थरों का योरोप जाना प्रतीत होता है। यह भी पता चलता है कि उज्जैन से भृगुकच्छ (Barygaza आधुनिक भड़ौंच) एक विशाल व्यापार-पथ था और उज्जैन से संगेशाह अथवा संगे सुलेमानी (onyx stones), अकीक, लोहितांक, मलमल, मलयवस्त्र तथा अनेक प्रकार के कपड़े, भृगुकच्छ होकर विदेश जाया करते थे।

प्राचीन भारत की पथ-पद्धति पर, विद्वद्वर डाक्टर मोतीचन्द्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'सार्थवाह' से नया प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार, उत्तर महाजनपथ पेशावर से तक्षशिला होकर काशी और मिथिला तक चलता था। उत्तर में

तक्षशिला भारतीय और विदेशी व्यापारियों का मिलन-केन्द्र था। किन्तु मारवाड़ के रेगिस्तान और कच्छ के रन की भौगोलिक परिस्थिति के कारण, गुजरात और सिन्ध के बीच का रास्ता बड़ा कठिन था। अतएव पंजाब से गुजरात का व्यापार-मार्ग, मालवा होकर ही जाता था। दक्षिण महापथ की एक शाखा भृगुकच्छ और सुप्पारक (सोपारा) के प्राचीन बन्दरगाहों से होती हुई उज्जैन के रास्ते मथुरा पहुँचती थी और दूसरी शाखा विदिशा से बेतवा की घाटी द्वारा कौशाम्बी पहुँचती थी। एक तीसरा महापथ चंबल की घाटी के ऊपर होते हुए मथुरा से उज्जैन होकर नर्मदा की घाटी में माहिष्मती (आधुनिक महेश्वर) को जाता था। उज्जैन होकर तामिलनाड के व्यापारी काशी पहुँचते थे और उज्जैन और पंपा के बीच भी कौशाम्बी और बनारस का व्यापार चलता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि मौर्ययुग में रत्नों का व्यापार खूब चलता था। कौटिल्य ने लिखा है कि उत्तर महाजनपथ (हैमवत मार्ग) पर घोड़ों, ऊनी कपड़ों और खालों को छोड़कर दूसरा व्यापार नहीं था। परन्तु दक्षिण पथ पर सदा शंख, हीरे, मोती, लाल और सोने का व्यापार चलता रहता था। दक्षिणपथ में भी वह मार्ग अच्छा समझा जाता था जो खदानों में होकर जाता था।

उज्जैन, वास्तव में, प्राचीन भारत का विशेष महत्त्वपूर्ण व्यापारिक स्थल बन चुका था। इसी लिए प्राचीन साहित्य में उज्जैन के घोड़े, हाथी, रथ तथा नाना प्रकार के माल से भरे बाजारों का उल्लेख है (देखिए 'पद्मप्राभृतकम्')। 'पादताड़ितकम्' के अनुसार, उज्जैन, सार्वभौम नगर था जिसमें देशी और समुद्रपार से लाये हुएं नाना प्रकार के माल का ढेर लगा रहता था।

उज्जैन होकर, भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर जानेवाला व्यापार-पथ अवन्ती के हाथ में था और कौशाम्बी, प्रतिष्ठान एवं माहिष्मती जानेवाले मार्ग पर भी अवन्ती का अधिकार था। इन मार्गों का महत्त्व कोरा व्यापारिक न होकर, राजनीतिक भी होता था।

व्यापार के कारण, उज्जैन एक अत्यन्त समृद्धिशाली एवं प्रसिद्ध नगर बन गया था। संस्कृत साहित्य में, इस नगर की बड़ी भारी प्रशंसा की गई है। कालिदास ने, 'मेघदूत' में, मेघ को टेढ़ा मार्ग का अवलंबन देकर उज्जैन होकर भेजा है। बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में उज्जयिनी नगरी के बाजार शंख, सीप, मोती, मूँगे तथा मरकत मणियों के पुंजों से भरे हुए बताकर उसकी समृद्धि का वर्णन करते हुए, नगरी को 'सकल-त्रिभुवन-ललामभूता' (समस्त भुवनों का तिलक) और 'सत्ययुग की जन्मभूमि' तक बताकर प्रशंसा की है।

चार शताब्दी पश्चात् 'नवसाहसांक चरित' के लेखक ने इस नगर की तुलना इन्द्र की राजधानी अमरावती से की। चीनी यात्रियों ने इस नगरी के निवासियों को समृद्ध एवं सम्पन्न बताया है।

मुगलकाल में यह स्थान मालवा सूबा और मालवा की सरकार का केन्द्रीय नगर बना रहा। सत्रहवीं शताब्दी के योरोपीय यात्रियों के वर्णन से पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण से गंगा-यमुना के दोआब को जानेवाले व्यापार-मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में उज्जैन की स्थिति में किसी प्रकार की कमी नहीं हो पाई। राल्फ फिटश् (Ralf Fitch) ने लिखा है कि नगर में कपास और सूती वस्त्र का व्यापार समृद्ध था और औषधियों का भी प्रचुर संग्रह था। सन् १७८५ ई० में माले (Malet) ने उज्जैन नगर की सूरत से तुलना करते हुए लिखा है कि उज्जैन के बाजार में अन्न, वस्त्र, शाक और फलों का बाहुल्य था और फलों में भी सेब, तरबूज, अंगूर, अनार और संतरों की विशेषता थी। लूआर्ड ने सेंट्रल इंडिया गैजेटिअर (प्रथम जिल्द) में और भी कतिपय योरोपीय यात्रियों के वर्णनों का उल्लेख किया है।

२—पुण्यभूमि उज्जयिनी का धार्मिक महत्त्व

उज्जयिनी भारत की सात पवित्र नगरियों में गिनी जाती है :—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

स्कन्द पुराण के आवन्त्य-खण्ड में तो यहाँ तक बताया गया है कि उज्जयिनी की पावनता सभी पुरियों से अधिक है।

तस्माद्धितकरं क्षेत्रं कुरूणां च सुरोत्तमाः।
तस्माद्दशगुणं मन्ये प्रयागं तीर्थमुत्तमम्॥
तस्माद्दशगुणा काशी काश्या दशगुणा गया।
ततो दशगुणा प्रोक्ता पुण्यदा च कुशस्थली॥

अवन्ती के तीर्थ और क्षेत्र माहात्म्य का वर्णन स्कन्दपुराण के दो तीन सौ पृष्ठों में विद्यमान है। धार्मिक साहित्य में उज्जयिनी के अनेक नाम बताये हैं; यथा 'अवन्तिका', 'पद्मावती', 'कुशस्थली', 'भोगवती', 'हिरण्यवती', 'कनकशृंग', 'कुमुद्वती', 'प्रतिकल्पा' और 'विशाला' इत्यादि। स्कन्दपुराण में 'अवन्ती' नाम पड़ने का कारण यह बताया गया है कि प्रत्येक कल्प में यह नगरी देवता, तीर्थ, औषधि, बीज एवं प्राणियों का 'अवन' (रक्षण) करती है अतः 'अवन्ती' नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई। 'उज्जयिनी' नाम का कारण यह बताया है कि त्रिपुरासुर को मारने के लिए देवताओं के साथ शिवजी ने महा-कालवन में रक्तदन्तिका चण्डिका देवी की आराधना करके महापाशुपत अस्त्र प्राप्त किया और त्रिपुर का वध किया। प्रबल शत्रु को "उज्जित" करने पर नगरी का नाम "उज्जयिनी" हो गया। लूअर्ड ने गजेटियर में इसका एक नाम 'शिवपुरी' और इस नगरी के नौ (९) कोस चौड़ाई और तेरह (१३) कोस लम्बाई के कारण दूसरा नाम 'नवतेरीनगर' और बताया है। यहीं पर शिवजी की प्रथम पत्नी सती की कुहनी कटकर गिरी थी। इसी से इसका नाम 'पीठस्थान' होना बताया जाता है। वाराह पुराण में अवन्तिका को 'मणिपूरचक्र' (शरीर का नाभिदेश) कहा गया है और उस प्रदेश के अधिष्ठातृ देवता श्री महाकालेश्वर माने गये हैं।

लिंगपुराण में उज्जयिनी के प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग श्री महाकालेश्वर की महिमा का सुविस्तृत वर्णन किया गया है। वामनपुराण के ८३वें अध्याय में बताया

श्री महाकालेश्वर मन्दिर के गर्भगृह में श्री महाकालेश्वर की मूर्ति
(राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद अभिषेक करते हुए)
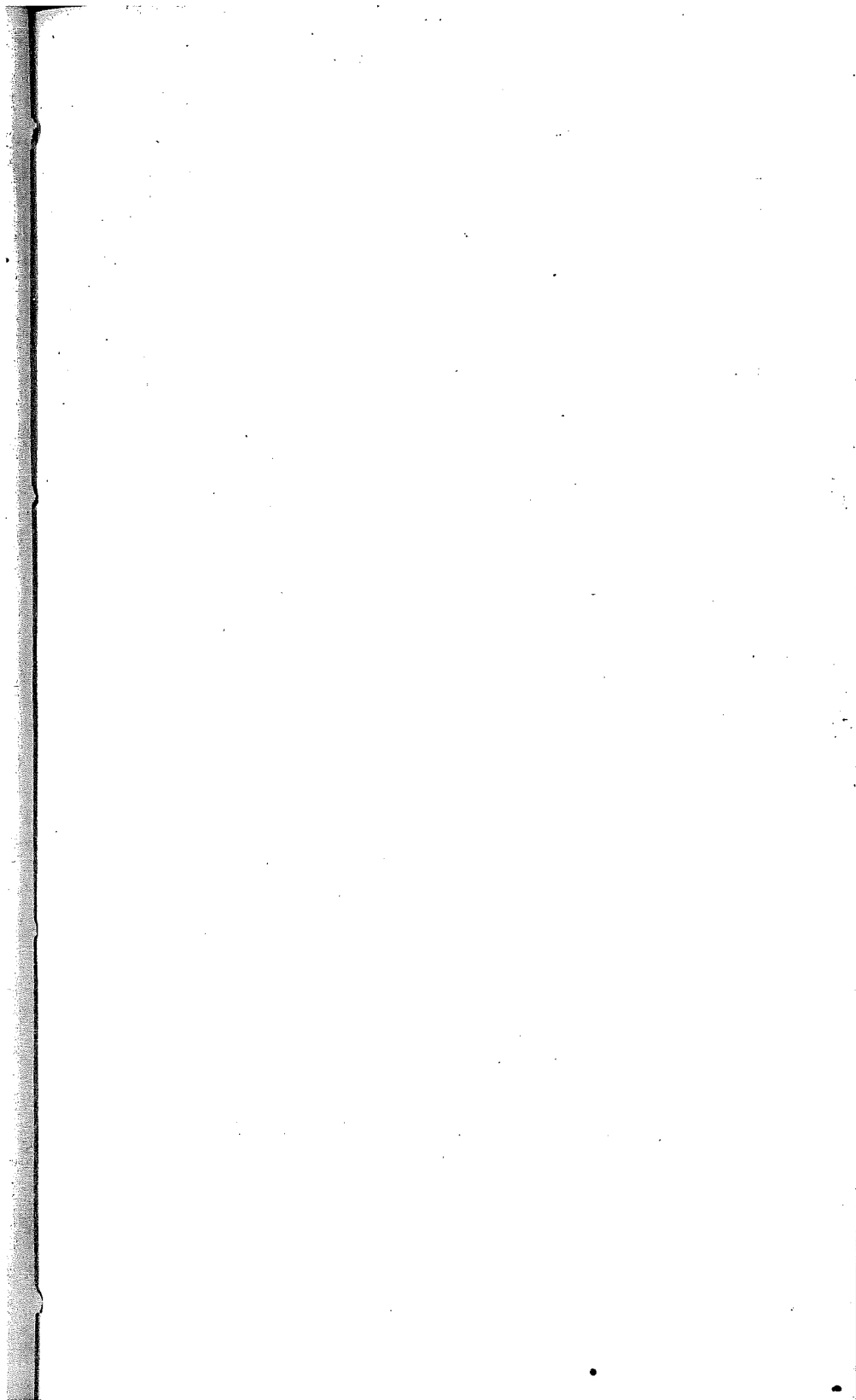
गया है कि परमभक्त प्रह्लाद ने उज्जयिनी में आकर शिप्रा स्नान करके महाकालेश्वर के दर्शन किये थे। श्री महाकालेश्वर प्रसिद्ध बारह (द्वादश) ज्योतिर्लिंगों में से हैं। आकाश में ताड़केश्वर, पाताल में हाटकेश्वर और मृत्युलोक के ज्योतिर्लिंग श्री महाकालेश्वर उज्जैन में विराजमान हैं। महाभारत में वनपर्व के ८२वें अध्याय में लिखा है कि महाकाल के निकट कोटितीर्थ है उसका स्पर्श होते ही अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है :—

महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ॥

आदि ब्रह्मपुराण के ४२वें अध्याय में, अग्निपुराण के १०८वें अध्याय में, गरुड़पुराण (पूर्वार्द्ध) के ६६वें अध्याय में एवं प्रेतकल्प के २७वें अध्याय में, तथा शिवपुराण, मत्स्यपुराण एवं विष्णुपुराण में भी स्थान-स्थान पर उज्जयिनी की महिमा का वर्णन किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलराम और सुदामा ने, उज्जयिनी में, मुनिवर सांदीपनी जी के चरणों में विद्याध्ययन किया था।

बारह वर्षों में जिस समय सिंह राशि पर बृहस्पति आते हैं तब उज्जैन में, कुंभ की तरह, सिंहस्थ की महायात्रा होती है। हरिद्वार, नासिक एवं प्रयाग के कुंभ मेलों की भाँति सिंहस्थ महायात्रा में लाखों यात्री आकर क्षिप्रा स्नान किया करते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय ज्योतिष ने प्रारम्भ ही से उज्जयिनी को 'शून्य-रेखा स्थित' माना है। यह शून्य रेखा (meridian) लंका से उज्जैन, कुरुक्षेत्र होते हुए मेरु पर्वत पहुँचती मानी गई है। गणित ज्योतिष के उद्भट विद्वान् श्री भास्कराचार्य ने 'सिद्धान्त शिरोमणि' के 'गोलाध्याय' में पृथ्वी की मध्यरेखा के विषय में यही लिखा है कि :—

यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत् ।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः ॥

स्कन्दपुराण के अवन्ती खण्ड के ६९वें अध्याय एवं अन्य तीन अध्यायों में क्षिप्रा नदी की महिमा का भी वर्णन किया गया है। सनत्कुमार जी ने व्यास जी से क्षिप्रा का माहात्म्य बताते हुए कहा है कि "इस समस्त पृथ्वीतल में क्षिप्रा के समान पुण्यदायिनी कोई अन्य नदी नहीं है। इसके किनारे क्षण भर में मुक्ति प्राप्त होती है। यह पवित्र नदी वैकुण्ठ में क्षिप्रा, स्वर्ग में ज्वरघ्नी, यमद्वार में पापघ्नी तथा पाताल में अमृतसंभवा नाम से विख्यात है। क्षिप्रा पुण्यप्रदा नदी है, तीनों लोकों को पवित्र करनेवाली है तथा सभी मनोरथों को

पूर्ण करनेवाली है। उसके दर्शन मात्र से सभी पापों का विनाश होता है। यों तो क्षिप्रा सर्वत्र कल्मषनाशिनी है, किन्तु अवन्तिका में इसका विशेष माहात्म्य है।"

जैन साहित्य और जैन धर्म में भी उज्जैन को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। धर्मवीर जैन मुनियों का केन्द्र यह नगर प्राचीन काल से ही रहा है। अकम्पनाचार्य के समान मुनिराज वहाँ अनेकानेक आते रहे हैं। "यशोधर-चरित्र" के अनुसार, राजा यशोधर ने पशु-बलिदान बंद किया था और तब से उज्जैन अहिंसा धर्म की प्रचार-भूमि रही है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान उज्जयिनी के निकट 'अतिमुक्तक' नामक श्मशान भूमि में आकर ध्यानमग्न हुए थे जहाँ रुद्र ने उन पर घोर आक्रमण किया था किन्तु आत्मबल के समक्ष पशुबल परास्त हुआ। अतः उज्जयिनी से ही भगवान् महावीर के आत्मबल की प्रसिद्धि लोकों में व्याप्त हुई। उज्जैन ही वह स्थान है जहाँ श्रुतकेलि भद्रबाहु के चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ दक्षिण भारत चले जाने पर 'दिगम्बर' और 'श्वेताम्बर' मतभेद प्रारंभ हुआ। निर्ग्रन्थ संघ का यह नगर प्रारम्भ से ही केन्द्र रहा है। आचार्य कालक के सम्बन्ध में हम आगे लिख रहे ह अतः यहाँ उनका उल्लेख करना वृथा है। गुप्त राज्यकाल से उज्जयिनी दिगंबर जैन भट्टारकों का केन्द्र नियुक्त हो चुका था और बहुत काल तक रहा। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मतों के यहाँ कई मन्दिर हैं और उज्जैन जैनियों का एक प्रमुख स्थान है। श्री सिद्धसेन दिवाकर का भी जैन इतिहास में बहुत ऊँचा स्थान है। विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर के संबंध अत्यन्त घनिष्ट बताये जाते हैं। विक्रम नवरत्नों में सिद्धसेन को 'क्षपणक' बताया जाता है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार श्री सिद्धसेन ने सम्राट् विक्रमादित्य को उज्जैन में जैन धर्म में दीक्षा दी थी।

जैन धर्म की भाँति, बौद्ध-धर्म का भी प्रमुख स्थान उज्जैन रहा है। भगवान् बुद्ध के काल में, महाराज चण्डप्रद्योत अवन्तिदेश के राजा थे। उनके पुरोहित के पुत्र महाकात्यायन (अथवा महाकाञ्चन) बौद्ध भिक्षु होकर अर्हत पद पा चुके थे। भगवान् बुद्ध के शिष्यों में महाकाञ्चन श्रेष्ठ थे। अवन्ति और शूरसेन प्रदेश में उन्होंने ही बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। अशोक के प्रसिद्ध पुत्र और पुत्री कुमार महेन्द्र और कुमारी संघमित्रा उज्जैन में ही जन्मे थे; और उन्होंने ताम्रपर्णी (लंका) में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। 'थेरी-गाथा' में प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाली इसिदासी एवं अभयमाता, अभयत्थेरी और अभय उज्जैन के ही थे। जातक ग्रंथों में उज्जैन का नाम बड़े आदर के साथ लिया गया है। चीन में जाकर, उज्जैन निवासियों में, जिन्होंने विद्वत्ता में नाम कमाया उनमें उपशून्य और परमार्थ मुख्य थे। उपशून्य उज्जैन राजा के पुत्र
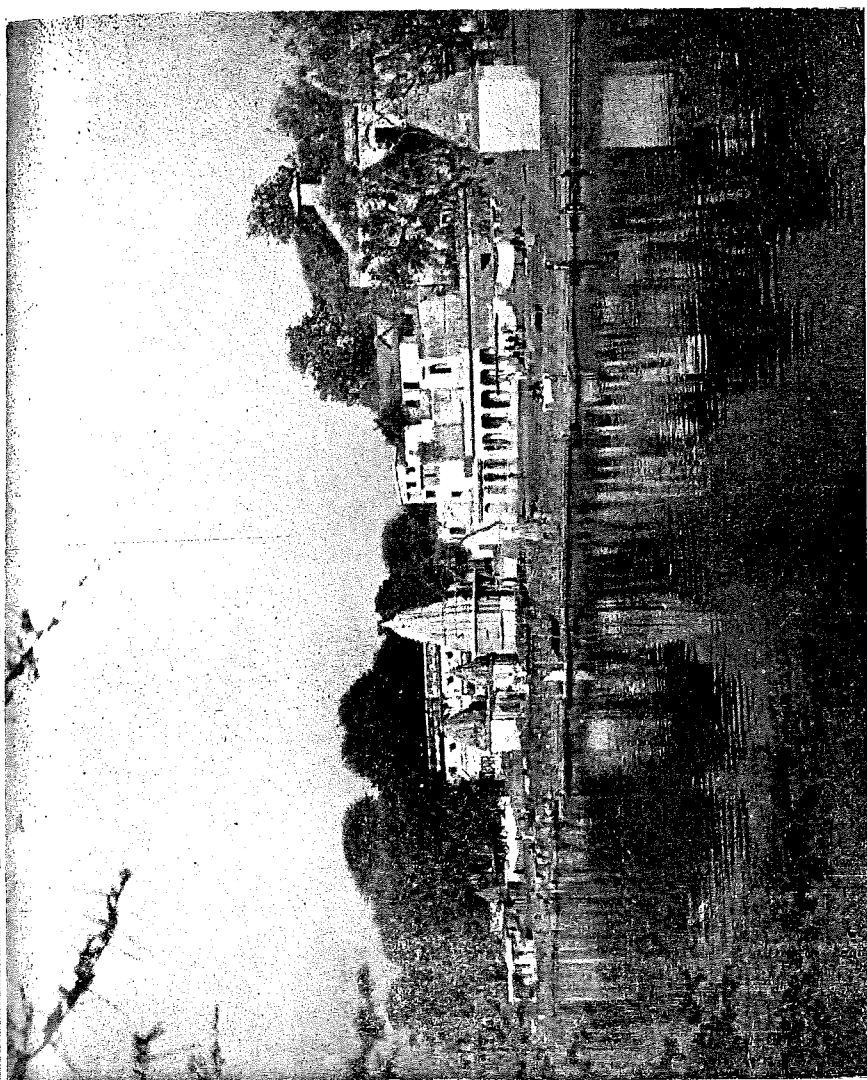
क्षिप्रा नदी का घाट

थे जो ५४६ में दक्षिण चीन गये थे और चीनी भाषा के कई ग्रन्थों का किंगलिंग में अनुवाद किया था। ५४८ ई० में वे खोतन गये थे। परमार्थ के सम्बन्ध में हमने एक स्वतंत्र लेख इस पुस्तक में लिखा है। वे ५४६ ई० से ५६९ ई० तक चीन में रहे थे और बौद्ध-धर्म का प्रचार करते हुए उन्होंने ५०५ संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। महाराज हर्ष के काल में चीनी यात्री हुएनत्वांग भारत में आया था। उसने लिखा है उज्जैन में ३०० बौद्ध पुरोहित थे जो हीनयान एवं महायान मतों के अनुयायी थे।

वास्तव में उज्जैन हिन्दू, जैन एवं बौद्ध-धर्मों का केन्द्र-स्थान शताब्दियों तक रहा है।

३—उज्जैन के इतिहास पर एक दृष्टि

इतिहास में उज्जैन अनादिकाल से प्रसिद्ध रहा है। आदि कवि वाल्मीकि ने किष्किधाकाण्ड में सुग्रीव द्वारा वानर सेना को आदेश देते हुए कहा गया है कि सीताजी को अवन्ती में भी खोजना।

"आव्रवन्तीमवन्तीं च सर्वमेवानुपश्यत" (४१ सर्ग श्लोक १०)

४२वें सर्ग में सुषेण नामक वानर को आदेश देते हुए फिर सुग्रीव से कहलाया गया है कि अवन्ती, अंगलेपा तथा सघन वन में सीता को ढूंढ़ना—

अवन्तीमंगलेपा च तथा चालक्षितं वनम्।। (श्लोक १४)

यह कहना कठिन है कि 'अवन्ती' नाम जानते हुए भी आदि कवि ने "आव्रवन्तीम्" का क्यों प्रयोग किया? क्या 'अवन्ती' से 'आव्रवन्ती' पृथक् देश था? स्कन्दपुराण के अनुसार तो आदि कवि ने अवन्ती में ही वाल्मीकेश्वर महादेव की तपस्या करके काव्य-प्रतिभा प्राप्त की थी और वहीं रामायण की रचना की थी।

महाभारत में दो अवन्ती नरेश, विन्द और अनुविन्द, का कौरव सेना की ओर से युद्ध में सम्मिलित होना बताया गया है। इन दोनों के पास दो अक्षौहिणी सेना थी। भीष्म पितामह ने इनको महारथी, शूरवीर एवं रणकौशल में विशेषज्ञ बताया था। भीष्मपर्व एवं द्रोणपर्व में इनका युद्ध वर्णन किया गया है। अर्जुन अथवा भीम के हाथ से, बाद में, यह मारे गये। विष्णु और अग्नि-पुराण से यह पता चलता है कि यदुकुल के वासुदेव की पाँच बहिनों में एक 'राज्याधिदेवी' का विवाह अवन्ती नरेश से हुआ था जिनसे दो पुत्र, विन्द और उपविन्द, उत्पन्न हुए। संभव है उपविन्द का दूसरा नाम अनुविन्द हो। लिंग-पुराण, मत्स्यपुराण एवं मार्कण्डेय पुराण के अनुसार हैहयवंश के महाप्रतापी कार्त्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने अवन्ती पर शासन किया था और उन्हीं से अवन्ती कुल प्रारम्भ हुआ था। इस अवन्ती कुल की समाप्ति किस प्रकार हुई यह कहना कठिन है।

गौतमबुद्ध के काल में अवन्ति नरेश चंडप्रद्योत थे। उत्तरी भारत में उस समय चार बलवान् नरेशों में वह प्रमुख थे। अन्य तीन (१) मगध के श्रेणिक बिम्बसार (२) कौशल के राजा प्रसेनजित् और (३) वत्स्य के राजा उदयन थे। संस्कृत साहित्य में, चंडप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता और राजा उदयन की प्रेम-परिणय-कथा बहुत महत्त्वपूर्ण है। चंडप्रद्योत पर इस पुस्तक में हमने

एक स्वतन्त्र निबंध लिखा है। चंडप्रद्योत के दो पुत्र पालक और गोपालक हुए। भास के नाटक 'स्वप्न वासवदत्ता', 'प्रतिज्ञा-यौगंधरायण' और 'प्रियदर्शिका' में वासवदत्ता, पालक और गोपालक का विस्तृत वर्णन है। पुराणों के अनुसार, अवन्ति राजवंश के एक अमात्य पुलिक ने अन्तिम राजा की हत्या करके अपने पुत्र चंडप्रद्योत को गद्दी पर बैठाया और चंडप्रद्योत ने आस-पास के राजाओं को जीतकर अपना राज्य बढ़ाया। पुराणमतानुसार चंडप्रद्योत ने २३ वर्ष राज्य किया। तदनन्तर पालक ने २४ वर्ष, विशाखयूप ने ५० वर्ष; अजक ने २१ वर्ष और अन्तिम राजा नन्दवर्द्धन ने २० वर्ष राज्य किया। कुल मिलाकर प्रद्योतवंश ने, उज्जैन में, १३८ वर्ष राज्य किया। 'हर्षचरित' में प्रद्योतवंश के एक कुमारसेन राजा का नाम भी बताया गया है। जैन हरिवंश पुराण के अनुसार, महावीर के निर्वाण दिवस को राजा पालक उज्जैन में सिंहासनारूढ़ हुए थे।

प्रद्योतवंश की समाप्ति संभवतः मगध के राज्य विस्तार के कारण हुई हो। यह निश्चित नहीं कि चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य के अन्तर्गत अवन्ति देश था या नहीं किन्तु इसमें शंका नहीं कि बिन्दुसार के साम्राज्य के अन्तर्गत अवन्ती और उज्जयिनी थीं और अशोक ११ साल तक अवन्ति देश की राजधानी उज्जयिनी में राज्य-प्रतिनिधि रहे। यहीं उनके घर में संसार-प्रसिद्ध राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्रा ने जन्म लिया था। बिन्दुसार की मृत्यु का संवाद उज्जैन में ही उनको मिला था और यहीं से पाटलिपुत्र में राज्यारोहण के लिए अशोक ने यात्रा की थी। अशोक के पुत्र कुणाल ने केवल आठ वर्ष राज्य किया और कुणाल के उपरान्त उसके पुत्र सम्प्रति ने राज्य का विस्तार और भी किया। जैन अनुश्रुति के अनुसार, सम्प्रति ने मध्यदेश, गुजरात और दक्षिण में शक्ति बढ़ाई और २५½ राज्यों को जैन साधुओं को सुगम बना दिया था। इन साढ़े पच्चीस राज्यों की जो तालिका दी गई है उनमें अवन्ति अथवा उज्जयिनी का उल्लेख नहीं मिलता। मौर्य-वंश के उपरान्त शुंग और कान्व वंशों ने मगध एवं विदिशा पर राज्य किया था किन्तु यह निश्चित नहीं हो पाया कि उस समय अवन्ति स्वतन्त्र था अथवा मगध-साम्राज्य के अन्तर्गत। शुंगवंश का प्रारम्भ ईसवी पूर्व १८४ में हुआ और कान्व वंश का अन्त ईसवी पूर्व २७ में। संभव है इस समय अवन्ति स्वतन्त्र रहा होगा।

पुराणों के अनुसार, गर्दभिल्ल वंश ने ८७ वर्ष राज्य किया था; किन्तु इस वंश का उज्जयिनी से स्पष्टतः सम्बन्ध नहीं बताया जाता। जैन 'कालिका-चार्य कथानक' से अवश्य पता चलता है कि उस समय गर्दभिल्ल उज्जैन के

राजा थे जिनको शकों ने हराया था और ईसवी पूर्व ५७ में शकों को विक्रमादित्य ने परास्त करके अवन्ति देश के बहुत दूर भगा दिया था। जैन 'विविध-तीर्थ-कल्प' के अनुसार, प्रतिष्ठान के एक सातवाहन राजा ने विक्रमादित्य को अन्तिम अवस्था में हराया था।

इस समय कुषाण साम्राज्य का विस्तार हो चुका था और इस वंश का सबसे प्रतापी राजा कनिष्क १२८ ई० में संभवतः सिंहासनारूढ़ हुआ था। श्री गिर्शमान ने अपनी पुस्तक "कुशान्स्" में लिखा है कि कनिष्क का उज्जयिनी पर भी अधिकार था। संभव है कि कुषाण साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते ही पश्चिमी क्षत्रप स्वतंत्र हो गये हों। वासिष्ठिपुत्र पुलमावि के नासिक गुफा के लेख से जान पड़ता है कि उसके पिता गौतमीपुत्र शातकर्णि ने शक, यवनों और पहलवों का पराभव करके सातवाहन कुल की राज्यलक्ष्मी पुनर्स्थापित की थी। जिन देशों को उसने जीता था उनमें असिक, असक, मुलक, सुरथ, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ और आकरावन्ति थे। इस लेख में वासिष्ठिपुत्र पुलमावि की "वर-वारण विक्रम" और "चारु-विक्रम" बताकर प्रशंसा की गई है। इस प्रशंसा के कारण ही श्री जायसवाल सरीखे विद्वानों की धारणा यह हुई थी कि यही प्रथम विक्रमादित्य थे।

जो कुछ भी हो, इसमें संशय नहीं कि उज्जैन कुल के क्षत्रपों का प्रारम्भ चष्टन ने किया था। उसका पौत्र महाक्षत्रप रुद्रदामा बड़ा प्रतापी हुआ जिसका सविस्तर वृत्तान्त हम आगे लिख रहे हैं। उसके जूनागढ़वाले शिलालेख (१५० ई०) से उसकी विजय का पता चलता है। इस शिला-लेख में 'पूर्व आकरावन्ती' और 'अपर आकरावन्ती' का उल्लेख है। विद्वानों का अनुमान है कि अपर आकरावन्ती की राजधानी उज्जैन थी और पूर्व आकरावन्ती की राजधानी विदिशा थी। उसने दक्षिणापथ के शातकर्णि को दो बार परास्त किया था और सातवाहनों के राज्य का बड़ा भाग छीनकर अपना राज्य विस्तार किया था। चष्टन-वंश के अन्तिम राजा (संभवतः रुद्रसिंह तृतीय) को चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने हराकर उज्जैन पर अपना अधिकार कर लिया था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय लगभग सन् ३७५ ई० में अयोध्या में सिंहासनारूढ़ हुए थे जहाँ पाटलिपुत्र से राजधानी उनके पिता के काल में आ चुकी थी। कहा यह जाता है कि सन् ३९५ ई० में राजधानी उज्जैन लाई गई। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुप्त साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार किया था। पाटलिपुत्र से अरब-सागर तक उसका राज्य फैल गया था। उसने "शकारि विक्रमादित्य" का विरुद धारण किया था और सिक्कों एवं शिलालेखों में उसको "परम भागवत

महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य", "रूपाकृति", "विक्रमांक", "सिंहविक्रम" और "नरेन्द्रचन्द्र" की उपाधियों से विभूषित किया गया है। चीनी यात्री फाहियान ने इसी काल में भारत की यात्रा की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कला अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गये थे। अतः विद्वानों का यह विचार है कि यही वह सम्राट् विक्रमादित्य है जिसके उज्जैन में नवरत्न थे और जिसके संबंध में बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी आदि ग्रंथ लिखे गये और अनेकानेक दन्तकथाएँ प्रचलित हो गई थीं। वह बड़ा पराक्रमी एवं यशस्वी हुआ। वैष्णव होते हुए भी अन्य मतावलंबियों का आदर करनेवाला था। साथ-साथ कला एवं साहित्य का परिपोषक एवं विद्वानों का आश्रयदाता भी था। चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त और पौत्र स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य का विरुद धारण किया था। स्कन्दगुप्त ने हूणों को परास्त किया था किन्तु बुद्धगुप्त की मृत्यु (४९५ सन् ई०) के उपरान्त तोरमाण और मिहिरकुल के सेनापतित्व में हूणों ने भानुगुप्त को हराकर मालवा पर अधिकार कर लिया था। भानुगुप्त की मृत्यु के उपरान्त गुप्त साम्राज्य भी तहस-नहस हो गया।

मन्दसौर के लेखों से पता चलता है कि यशोधर्मन् ने (५३३ ई० में) हूणों को हराकर भारत का बहुत भाग जीत लिया था। किन्तु उसका साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं चल पाया। उसके अनन्तर थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन (लगभग ५८० ई० से ६०५ तक) ने हूणों को हराकर मालवा, गुजरात और सिंध पर अपना अधिकार कर लिया था और उसके पुत्र महाराज हर्षवर्द्धन (६०६ ई० से ६४७ ई०) के काल में उज्जैन कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत था। बाण भट्ट ने 'कादम्बरी' में उज्जयिनी की प्रशंसा इसी काल में लिखी थी। महाराज हर्ष के काल में चीनी यात्री हुएनच्वांग ने भारत की यात्रा की थी। वह सन् ६३० ई० में भारत आया और चौदह वर्ष भारत भर में घूमता रहा। इसके अनुसार उस समय उज्जैन का शासन एक ब्राह्मण वंश का राजा करता था। अवन्ति देश का क्षेत्रफल वह १,२०० वर्गमील बतलाता है और उज्जैन नगरी की परिधि ६ मील थी। नगरी के निवासियों का प्रेम व्यापार में था न कि विद्या में। हर्ष-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर (६४७ ई०) सारे भारत में अराजकता फैल गई थी। "शंकर दिग्विजय" में आदि गुरु शंकराचार्य के काल में उज्जैन का राजा सुधन्वा नाम का बताया है जिसने बौद्धों पर अत्याचार किया था।

इसके अनन्तर राष्ट्रकूट और गुर्जर प्रतिहारों में मालवा के पीछे संघर्ष होते रहे। नवीं शताब्दी में मालवा पर परमारों का आधिपत्य हुआ। इसी

वंश में वाक्पतिराज मुंज और राजा भोजदेव बड़े साहित्य-सेवी एवं यशस्वी हुए जिन पर अधिक विस्तृत वर्णन हम आगे लिख रहे हैं। सन् ८७५ से १२१६ ई० तक परमार वंश का राज्यकाल कहा जाता है यद्यपि बीच-बीच में तोमर और चौहान वंश ने भी अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया था। अनहिलवार के प्रसिद्ध राजा जयसिंह सिद्धराज ने एक बार "अवन्तिनाथ" की उपाधि तक धारण कर ली थी।

परमारों के शासन के अन्तिम समय में मुसलमानों के उज्जैन पर आक्रमण होने लगे। सन् १२३५ में सुल्तान अल्तमश ने नगर को नष्ट-भ्रष्ट करके महाकाल का प्राचीन मन्दिर भी तोड़ दिया था और कई मूर्त्तियाँ दिल्ली ले जाकर जामा मस्जिद के द्वार पर रख दी थीं। उसके उपरान्त अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६ ई०) के अधिकारी मलिक एन-उल-मुल्क ने उज्जैन के एवं मालवा के अन्य दुर्गों को बरबाद कर दिया।

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, (सन् १४०१ ई० में) मालवा के प्रान्तपति दिलावर खाँ गोरी ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित किया। महमूद खिलजी (१४३६ से १४६९ ई०) ने उसकी हत्या करके मांडू की खिलजी सल्तनत कायम करके उस राज्य का अत्यधिक विस्तार किया। इस समय उज्जैन का रहा-सहा महत्त्व भी समाप्त हो चुका था। खिलजी वंश में, नासिरुद्दीन खिलजी ने (१५००-१५१० ई०), उज्जैन में, कालियादह महल बनवाया। सन् १५३१ ई० में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने मालवा पर अधिकार कर लिया। सन् १५३४ ई० में हुमायूँ ने बहादुरशाह को मन्दसौर के निकट हराया और मालवा जीता। फरवरी १५३५ ई० में हुमायूँ उज्जैन भी आया था। हुमायूँ के चले जाने पर सन् १५३६ ई० से १५४२ तक मालवा खिलजी वंश के सरदार मल्लूखाँ उर्फ कादिरशाह के अधीन रहा। किन्तु शेरशाह ने उसे पराजित करके १५४२ ई० में शुजाअत खाँ को सूबेदार नियुक्त किया। शुजाअत खाँ का पुत्र बाजबहादुर (१५५५-१५६४ ई०) अपने प्रेम परिणय और भोग-विलास एवं अपनी रानी रूपमती के कारण प्रसिद्ध हुआ। सन् १५६१-१५६२ ई० में बादशाह अकबर के सेनापति आदम खाँ ने बाजबहादुर को सारंगपुर के युद्ध में हराया और उसके अनन्तर मालवा मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत एक प्रान्त बना रहा। उज्जैन उस प्रान्त का केन्द्रीय नगर बना दिया गया था। "आइने-अकबरी" के अनुसार उज्जैन सरकार से राजस्व की आय चार करोड़ अड़तीस लाख दाम से कुछ ऊपर थी।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मालवा में मराठों का प्रवेश हुआ। पेशवा बाजीराव प्रथम (सन् १७२० ई० से सन् १७४० ई०) की सेनाएँ मालवा

पहुँच चुकी थीं। सन् १७२६ ई० में उन्होंने अपने प्रतिनिधि राणोजी शिन्दे तथा मल्हारराव होल्कर नियुक्त किये। मालवे की सूबेदारी पेशवा बाजीराव को दिल्ली से दी गई। सन् १७३१ ई० में पेशवा ने अपने और अपने प्रतिनिधियों के बीच राजस्व वसूली का बँटवारा किया। उज्जैन बँटवारे में राणोजी शिन्दे के अधिकार में आने पर शिंदे वंश के प्रवर्त्तक राणोजी ने (ई० १७२६ से १७४५ तक) उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया। राणोजी के दीवान रामचन्द्र मल्हार उर्फ बाबा रामचन्द्र शेणवी ने सन् १७३४ ई० में महाकाल के मन्दिर का पुनर्निर्माण किया। इसके अतिरिक्त सिंहस्थ मेले की व्यवस्था एवं राजकीय व्यवस्था भी राणोजी के काल में हुई। राणोजी की मृत्यु (सन् १७४५ ई०) होने पर उनके अनन्तर महादजी सिंधिया (१७६५ से १७९४) बड़े प्रतापी हुए। उन्होंने उत्तरी भारत में पर्याप्त युद्धों में विजय प्राप्त करके दिल्ली पर भी धावा बोला था। किन्तु यह अधिकतर ग्वालियर के आसपास ही रहते रहे। उनके उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया ने ग्वालियर (लश्कर) में अपनी राजधानी स्थापित की। तब से उज्जैन, ग्वालियर राज्य के द्वितीय नगर के रूप में, ही रहता आया। सन् १९४८ ई० में, मध्यभारत बनने पर, उज्जैन इस राज्य का एक प्रमुख नगर बन गया है। उज्जयिनी के गर्भ में आज एक महान् भविष्य दिखाई पड़ता है।

४—महाराज चण्डप्रद्योत

उज्जयिनी के पूर्वकालीन इतिहास में महाराज चंडप्रद्योत का काल कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाकवि कालिदास ने भी इस काल का स्मरण करके 'मेघदूत' में लिखा था:—

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तंभमुत्पाट्यदर्पा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥

(प्रद्योत की कन्या—वासवदत्ता—को वत्सराज उदयन ने हरण किया था। उसी प्रद्योत के यहाँ सुनहरी (या सोने के?) ताल वृक्षों का वन भी था। यही नलगिरि हाथी ने स्तंभ को उखाड़ कर भ्रमण किया था। यह कथा सुन-सुनाकर वहाँ के वृद्ध इतिहासज्ञ बंधुजनों को प्रसन्न किया करते हैं।)

कथासरित्सागर में यह हाल बड़े मनोहर रूप से वर्णन किया गया है। राजा महेन्द्र वर्मा उज्जैन के राजा थे। उनके पुत्र जयसेन और इन्हीं जयसेन के पुत्र महासेन बताये गये हैं। महासेन का दूसरा नाम प्रद्योत था। महासेन ने बड़ी भारी तपस्या की और देवी भगवती के ऊपर अपना मांस काट-काट कर हवन किया जिससे प्रसन्न होकर देवी ने इन्द्र के वज्र के समान अपना एक खड्ग और ऐरावत के समान एक बड़ा नलगिरि नाम हाथी दिया और कहा कि तूने बड़ा चंड कर्म किया है, इसलिए तेरा नाम चंड महासेन होगा। देवी यह कहकर अंतर्धान हो गई कि अंगारक-दैत्य की पुत्री अंगारवती अति सुन्दरी कन्या महासेन को मिलेगी।

कालान्तर में चंड महासेन ने अंगारक को मारकर अंगारवती से अपना ब्याह किया। जिससे उनके गोपालक और पालक दो पुत्र और एक चन्द्ररेखा के समान अत्यन्त रूपवती कन्या वासवदत्ता उत्पन्न हुई।

महासेन उसका विवाह वत्सराज उदयन से करना चाहते थे क्योंकि वह पाण्डव वंश में जन्मे थे। पुराणों की राज-वंशावलियों के अनुसार उदयन के पिता का नाम शतानीक था। उदयन-पिता शतानीक, महाभारत के पश्चात्, पौरव कुल के शतानीक द्वितीय थे। ऐसे वंश को छोड़कर अपनी प्यारी कन्या चंडमहासेन और किसी को देने को तैयार न थे। आर्य-राजाओं में उस समय पाण्डव-वंश ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था।

राजा उदयन युवक थे। शतानीक की मृत्यु होते ही पांचाल राजा आरुणि ने उदयन पर आक्रमण कर दिया और वत्सदेश का कुछ भाग हस्तगत कर लिया था। गद्दी पर बैठते ही वत्सदेश इस प्रकार छोटा रह जाने से उदयन को निराशा हुई और मंत्रियों पर राज छोड़कर स्वयं हाथी पकड़ने के व्यसन में लिप्त हो गये। उदयन अपनी घोषवंती वीणा बजाकर हाथियों की उद्दण्डता दूर कर उन्हें आसानी से पकड़ लेते थे।

राज्याभिषेक के अनन्तर उदयन एक बार विन्ध्याचल के वन में गये। चंडमहासेन का उस समय महामंत्री भरत रोहक था। उसने उदयन को पास में आया जानकर, चंडमहासेन की आज्ञा लेकर, उदयन को कैद करने के लिए बड़ा भारी षड्यन्त्र रचा। एक यंत्र का हाथी बनवाकर उसके भीतर बड़े बड़े वीरों को भरकर विन्ध्याचल के वन में छोड़ दिया। राजा उदयन के शिकारियों ने उस हाथी की बड़ी प्रशंसा की। दूसरे दिन कुछ गुप्तचरों को लेकर उदयन-सेना को छोड़कर हाथी पकड़ने चल दिये। संध्या हो चुकी थी, उदयन वीणा में तल्लीन हो गये थे। कृत्रिम और वास्तविक गज में उनको भेद नहीं दिखाई दिया। अकेले उदयन को पाकर शस्त्रधारी सैनिक कृत्रिम हाथी से निकल पड़े और उदयन को कैद करके उज्जयिनी ले आये। चंडमहासेन ने उदयन का बड़ा सम्मान किया। वीणा सिखाने के लिए उदयन को वासवदत्ता का शिक्षक नियुक्त किया। दोनों का प्रेम-परिणय हो गया। तब तक उदयन के महामंत्री यौगन्धरायण और पुरोहित बसन्तक भेष बदलकर उज्जयिनी आ गये और छल से उदयन और वासवदत्ता दोनों को वत्सदेश ले गये। वहाँ गद्दी पर बैठकर, वासवदत्ता को उदयन ने अपनी रानी बनाया और चण्डमहासेन ने भी प्रसन्न होकर अपने लड़के गोपालक को भेजकर दोनों का विधिवत् विवाह करा दिया। इस विवाह के कुछ काल अनन्तर यौगन्धरायण ने वासवदत्ता की सलाह से मगध राजकुमारी पद्मावती से भी उदयन का ब्याह करा दिया; और चण्डमहासेन और मगध की सेनाओं की सहायता से पांचाल देश जीतकर वत्सराज में मिला लिया।

कथासरितसागर में उदयन और वासवदत्ता के पुत्र नरवाहनदत्त की और भी अधिक कीर्त्ति वर्णित की गई है। बताया यह जाता है कि सोमदेव ने कथा-सरितसागर उज्जैन में ही लिखी थी। अन्य ग्रन्थकार उदयन के पुत्र का नाम वहीनर बताते हैं। मत्स्यपुराण ने लिखा है कि उदयन और उसके प्रतापी पुत्र भरतवंश के अन्त में होंगे।

जो कुछ भी हो, उदयन-वासवदत्ता की प्रणय-कथा ने संस्कृत साहित्य

को एक नवीन जीवन प्रदान कर उज्जयिनी और उसके नरपति चंडप्रद्योत की कीर्त्ति को ही अमर बना दिया है।

संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम नाटककार—कविकुल गुरु कालिदास के अनुसार—भास, सौमिल्ल और कवि पुत्र आदि हैं।

वास्तव में कालिदास के समय में भास का यश अच्छी तरह फैला हुआ था। राजशेखर ने लिखा है कि भास का नाटक-संग्रह था और स्वप्न वासवदत्ता सबसे श्रेष्ठ नाटक था :—

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥
—सूक्ति मुक्तावली

भास के 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' नाटक में उदयन और वासवदत्ता के ऊपर लिखित प्रेम-परिणय कथा का वर्णन है। भास का दूसरा नाटक छः अंकों का स्वप्न वासवदत्ता नाम का नाटक है जिसमें वत्सराज उदयन की सार्वभौमत्व प्राप्ति के लिए मगधराज-कन्या पद्मावती से विवाह की पूरी कथा दी गई है।

भास का 'चारुदत्त' नाटक भी चंडप्रद्योत के पुत्र पालक राजा की उज्जयिनी से संबंधित है और शूद्रक का 'मृच्छकटिक' इसी 'चारुदत्त' का ही दूसरा परिवर्द्धित संस्करण समझा जाता है।

बाण के हर्षचरित में भी यह कथा मिलती है और कई पाली ग्रंथों में भी यह कथा उद्धृत की गई है। बृहत्कथा श्लोक-संग्रह और विष्णुगुप्त ने भी यह प्रणय-कथा किसी न किसी संक्षिप्त रूप में दिखाई है।

ऐसा भी बताया जाता है कि भास ही संस्कृत भाषा में प्रथम नाटककार थे और संस्कृत नाटकों का सूत्रपात चंडप्रद्योत की उज्जयिनी से ही हुआ है। और बाद के लिखे नाटक भी इसी लिए उज्जयिनी से संबंधित हैं।

संस्कृत साहित्य और संस्कृत नाटक के इतिहास में महाराज चण्डप्रद्योत का महत्त्व इसी लिए अत्यन्त अधिक माना जाता है। हर्ष की 'रत्नावली' और 'प्रिदर्शिका' और कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय', 'मालविकाग्निमित्र' और 'शकुंतला' में कई स्थल पर स्वप्न वासवदत्ता और चारुदत्त की छाया प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है।

मृच्छकटिक और चारुदत्त नाटकों में महासेन के पुत्र पालक को दुराचारी, कुनृप और बलमन्त्रिहीन लिखा है। पालक के पीछे अवन्ति का राज्य विजयाकुल में चला गया ऐसा त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति में लिखा है।

ऐतिहासिक दृष्टि

गौतमबुद्ध के काल में भारतवर्ष में चार महाराज ही श्रेष्ठ बताये जाते हैं। (१) उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत महासेन (२) मगध के श्रेणिक बिम्बसार (३) कोशल के प्रसेनजित् और (४) वत्स के उदयन।

वीणा वासवदत्ता में निम्नलिखित राजाओं के नाम और भी बताये गये हैं परन्तु यह अधिक बलशाली प्रतीत नहीं होते—

(१) अश्मकराज संजय
(२) माधरराज जयवर्मा
(३) काशीपति विष्णुसेन
(४) अंगेश्वर जयरथ
(५) मत्स्यराज शतमन्यु
(६) सिंधुनरेश सुबाहु
(७) पांचालराज आरुणि

पाली ग्रंथों में चंडप्रद्योत को 'चंडपज्जोति' लिखा गया है और यह गौतमबुद्ध के समवयस्क ही बताये गये हैं। पाली ग्रंथों में चंडप्रद्योत के पिता का नाम पुलिक या अनन्तनेमि बताया गया है। 'समन्तपासादिका' में बुद्धघोष ने प्रद्योत का जन्म कुछ और भी रहस्यमय बताया है, परन्तु वह सही प्रतीत नहीं होता। पुराणों में चंडप्रद्योत का शासन-काल २३ वर्ष ही बताया है परन्तु पाली ग्रंथों में ५२ वर्ष बताया गया है। श्रीयुत् डाक्टर बिमलाचरण एम० ए०, बी० एल०, पी-एच० डी० ने हाल में ही 'पुरातन भारत में अवन्ती' एक छोटी पुस्तिका अँगरेजी में लिखी है जो ग्वालियर स्टेट के आर्क्यालोजी डिपार्टमेंट से प्रकाशित की गई थी। पाली ग्रंथों के आधार पर श्रीयुत् लॉ महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सूरसेन के राजा का नाम 'अवन्ति पुत्त' होने से उज्जयिनी और मथुरा राजकुलों में विवाह-संबंध अवश्य मानना पड़ेगा। उत्तर-पूर्व में अवन्ती राज्य वत्सराज की सीमा से भी मिलता हुआ था। उनके अनुसार राजा बिम्बसार—अवन्ती नरेश प्रद्योत के मित्र थे। गौतम बुद्ध से उमर में, वे ५ वर्ष छोटे थे और ५२ वर्ष राज करके बुद्ध निर्वाण के ८ वर्ष पूर्व उनके पुत्र अजातशत्रु ने बिम्बसार की हत्या करके राज हस्तगत कर लिया। जब इस हत्या का समाचार चंडप्रद्योत ने सुना तो उन्होंने अजातशत्रु पर धावा करने की तैयारी प्रारंभ कर दी। चंडप्रद्योत के धावे से भयभीत होकर अजातशत्रु ने राजगृह की रक्षा के लिए सारे प्रबन्ध किये परन्तु फिर चंडप्रद्योत ने किसी कारण से अपना विचार छोड़ दिया।

पाली ग्रन्थों में चण्डप्रद्योत को उग्रकर्मा, नयवर्जित, सिद्धान्त-रहित और नास्तिक बताया गया है।

चंडप्रद्योत ने गौतम बुद्ध को उज्जयिनी निमंत्रित करने के लिए अपने राजगुरु के पुत्र कात्यायन को भेजा था। परन्तु बोधिसत्व उज्जैन न पधार सके। महाकात्यायन बुद्धदेव के प्रमुख शिष्यों में अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं। उनके कारण बौद्ध भिक्षुओं में चंडप्रद्योत का नाम आदर से लिया जाता था। अवन्ती एवं सूरसेन देश में बौद्ध-धर्म को फैलाने में उनका ही श्रेय था। गौतम बुद्ध के अनन्तर बोधिसत्व की भाँति ही महाकात्यायन का सम्मान होता रहा। मथुरा नरेश को जो कात्यायन ने वर्णव्यवस्था के विरोध में उपदेश दिया था वह 'मधुरा-सुत्त' के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ और आज भी बौद्ध-धर्म-विद्वत्ता के एक उत्कृष्ट उदाहरण की भाँति उद्धृत किया जाता है। महाकात्यायन के उपदेशों के आधार पर अत्यन्त प्रसिद्ध 'महानिद्देश' की रचना की गई थी। कात्यायन को 'कांचन' या 'कच्चन' भी लिखा है। इनके जीवन-चरित-संबंधी अन्य बातें हमने आगे लिखी हैं।

वैद्यवर जीवक

पाली ग्रन्थों में महाप्रसिद्ध वैद्य जीवक के उज्जैन आकर महाराज चंडप्रद्योत की बीमारी हटाकर उनको स्वस्थ करने का वर्णन बड़ी बड़ी कथाओं के रूप में दिया गया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित भिषगाचार्य डा० गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अँगरेजी ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ दी इण्डियन मैडीसिन' के तृतीय भाग में इनमें से कुछ वर्णन का अनुवाद पाली ग्रन्थों से किया गया है। अन्य ग्रन्थों में भी यही वर्णन मिलते हैं।

इन ग्रन्थों के आधार पर बताया गया है कि श्रेणीय बिम्बिसार के कुमार अभय के एक वैश्या से उत्पन्न पुत्र 'जीवक' को महाराज बिंबिसार ने पुत्रवत् मानकर पाला था। बड़े होने पर जीवक अपनी इच्छानुसार तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढ़ने गये थे और वहाँ, भारत के सिरमौर अध्यापक आत्रेय ने उनको सात साल आयुर्वेद पढ़ाकर दक्ष कर दिया था। अत्यन्त प्रतिभावान् होने के कारण उनको शीघ्र ही यशश्री प्राप्त हो गई। भारतवर्ष में जहाँ अन्य वैद्य निराश हो जाते वहीं जीवक बुलाये जाते थे। फैलते-फैलते उनकी कीर्त्ति दिगन्त में व्याप्त हो गई।

एक बार उज्जयिनी के महाराज चंडप्रद्योत पाण्डु रोग से बीमार पड़े। संसार-प्रसिद्ध वैद्य बुलाये गये, परन्तु उनके रोग को दूर नहीं कर सके। तब उन्होंने श्रेणीय बिंबसार से जीवक को भेजने की प्रार्थना की। आज्ञा मिलते ही जीवक उज्जैन आये। यहाँ आने पर उनको पता चला कि चंडप्रद्योत का क्रूर स्वभाव है और वह ऐसे रस से घृणा करते हैं जिसमें घी या तेल की

चिकनाहट हो। परन्तु ऐसा रस लिये बिना रोग दूर नहीं हो सकता। ऐसा रस लेते ही इनको वमन (कै) होगी। और स्वभाव से ही क्रोधित होने पर कै होते ही पता नहीं क्या क्रूर आज्ञा दे डालेंगे। क्रोध इतना है कि मृत्यु-दण्ड की आज्ञा भी असंभव नहीं है।

ऐसा सोचते-सोचते भारतीय वैद्यों के उज्ज्वल रत्न जीवक, महाराज चंड-प्रद्योत के यहाँ पहुँचकर कहनें लगे कि "हे महाराज! हम वैद्य लोगों को जंगल में दूर-दूर जाकर नाना प्रकार की जड़ी-बूटी एकत्रित करनी पड़ती है। कोई जड़ी प्रातःकाल, कोई सायंकाल, कोई किसी समय, कोई किसी समय, लानी पड़ती है। इसलिए प्रथम तो कोई बहुत तेज वाहन का प्रबन्ध होना चाहिए और द्वितीय यह भी आज्ञा होनी चाहिए कि उज्जयिनी के किसी भी द्वार से किसी भी समय अन्दर आते या बाहर जाते हुए हमको कोई द्वारपाल, सैनिक या कर्मचारी रोकने न पावे।"

महाराज ने वैसी ही आज्ञा कर्मचारियों को दे दी। और सारे वाहन भी उनको दिखलाने का आदेश दिया। उस समय द्रुत गतिवाले वाहनों में चार या पाँच वाहन उज्जयिनी में अत्यन्त प्रसिद्ध थे:—

(१) **उप्पनिका रथ**—जिसको एक दास उप्पनिका ले जाता था। यह एक दिन में ६० योजन जाकर लौट आता था।

(२) **नलगिरि हाथी** जो एक दिन में १०० योजन जाता और उतनी ही दूरी से वापिस भी आ जाता था।

(३) **मूड़केशी** (मंजुकेशी) घोड़ी जो १२० योजन जाकर वापिस आ सकती थी और

(४) **तेल कर्णिका** घोड़ी जिसकी तेजी भी इतनी ही थी। (कहीं कहीं इसको शैलकंठी घोड़ी लिखा है)।

'उदेन वत्तु' में पाँच वाहन लिखे हैं रथ का नाम 'कक्का' और भद्रावती हथिनी भी लिखी है।

जीवक कभी किसी वाहन पर, कभी किसी वाहन पर, कभी किसी समय, कभी किसी समय, आते जाते बने रहे। कई दिवस व्यतीत होनें पर रस तैयार करके राजमहल में ले गये और महाराज को नाक बन्द करने को कहा। नाक बन्द करके रस पी लेने पर, जीवक शीघ्रता से चलें आयें और भद्रावती हथिनी लेंकर कौशांबी भाग आयें। महाराज चंडप्रद्योत का जी मिचलाता रहा और थोड़ी देर के अनन्तर उन्होंनें वमन करना प्रारंभ किया। तब उन्हें पता चला कि उनके आदेश के प्रतिकूल उनको किसी प्रकार के तेल में मिलाकर औषधि

दे दी गई है। उसी समय जीवक को बुलाया गया परन्तु जीवक का पता कैसे लग सकता था? वह तो कौशांबी पहुँच चुके थे।

महाराज ने रथ लेकर उप्पनिका द्रास को तुरन्त ही रवाना कर दिया। कौशाम्बी में जीवक को उस दास नें आ घेरा। जीवक उस समय भोजन कर रहे थें। उस दास को भी खाने को कहा परन्तु उसनें स्वीकार नहीं किया। परन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध एक फल का थोड़ा सा टुकड़ा उसको खिला ही दिया। फल खाते ही उस दास का सिर चक्कर खाने लगा। जब जीवक भोजन समाप्त करके राजगृह चलने को उद्यत हुए तब उस दास को वही फल और खिला दिया। जिससे वह तुरन्त ही अच्छा हो गया। हथिनी उसको वापस देते हुए जीवक ने यह कहा कि औषधि जो महाराज चंडप्रद्योत को दी थी वह अचूक थी। वमन होने के अनन्तर इतना समय हो चुका है कि उसने अपना प्रभाव दिखाया होगा और वह बिलकुल अच्छे हो गये होंगे और उनका क्रोध भी जाता रहा होगा। अब तुम उज्जयिनी लौट जाओ। निदान दास ने उज्जैन लौटकर सारी कथा जब महाराज को सुनाई तो वे बहुत प्रसन्न हुए और बहुमूल्य वस्त्र जीवक को भेंट में भेजे।

इस समय, अकस्मात्, गौतम बुद्ध बहुत बीमार पड़ गये और सारे भारतवर्ष में खलबली मच गई। आनन्द ने जीवक से कहा कि संसार के महापुरुष का उपचार असाधारण रीति से होना चाहिए क्योंकि सारे संसार की दृष्टि आज इस ओर है। जीवक ने सोचा कि जुलाब दिये बिना बोधिसत्व अच्छे नहीं हो सकते परन्तु इनका शरीर इतना शक्तिशाली नहीं रहा है कि साधारण जुलाब दिया जा सके इसलिए तीन कमल के फूल मँगाये गये और उन कमल पुष्पों में सुगंधित औषधियाँ बड़े यत्न से बन्द करके एक-एक फूल बुद्ध भगवान् को सूँघने को दिया गया। एक फूल सूँघने पर दस बार उदर स्वच्छ करने को जाना पड़ता था। परन्तु उससे किंचित् भी कष्ट या दुर्बलता प्रतीत नहीं होती थी। तीस बार मलशुद्धि के अनन्तर भगवान् बुद्ध बिलकुल स्वस्थ हो गये और सारे संसार में जीवक की कीर्त्ति और भी उज्ज्वल हो गई।

भगवान् ने प्रसन्न होकर जीवक को आशीष दी। तब साहस करके, जीवक ने, भगवान् से एक वरदान माँगा। भगवान् ने कहा जो तू कहेगा वैसी ही आज्ञा दूँगा। तब जीवक ने कहा कि "भगवान् को एवं भिक्षु भ्राताओं को रद्दी चिथड़ों के कपड़े जोड़-जाड़कर पहनते देख देख मेरा चित्त थक गया है। इसलिए उज्जयिनी के महाराज चंडप्रद्योत के भेजे हुए बहुमूल्य 'शिवेय्यक' वस्त्र अब धारण करने की आज्ञा प्रदान की जावे और स्वयं भी भगवान् यह वस्त्र धारण करने की कृपा करें। 'जीवक' की बात मानते हुए उस दिन

भगवान् ने यह आज्ञा प्रदान की कि "जो भिक्षु चाहे वह प्रसन्नता से अच्छे वस्त्र पहन सकता है। वस्त्रों के विषय में जो कड़ी आज्ञा प्रारम्भ में दी गई थी, जीवक की प्रार्थना के अनुसार, अब वह शिथिल की जाती है।"

स्वयं बुद्ध भगवान् ने भी जीवक का आभार मानकर दूसरे वस्त्र धारण किये और इस प्रकार महाराज चंडप्रद्योत की उज्जयिनी के बने हुए सुन्दर वस्त्रों ने संसार में उज्जयिनी की कीर्त्ति-पताका फहराकर बौद्ध भिक्षुओं के सामाजिक इतिहास में महान् परिवर्तन कराया।

काव्य, साहित्य, नाटक, प्रेम-परिणय, प्रणय-कथा, राजनीति, हस्ति-शिक्षा, युद्ध-शिक्षा, सोने के ताल-बन, नाना प्रकार के वाहन, यंत्र-शिक्षा, नीलगिरि हाथी, बौद्ध-धर्म, धर्म-प्रचार, कांचन की भूमि और बहुमूल्य नाना प्रकार के बने वस्त्रों और सुन्दर वस्त्र-कला के लिए महाराज चंडप्रद्योत की उज्जयिनी की कीर्ति सदा अजर और अमर बनी रहेगी।
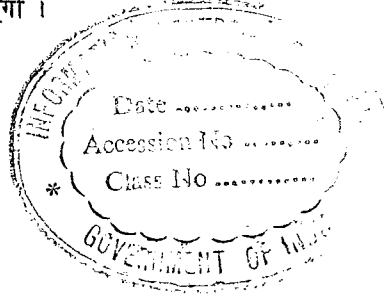
५—महाक्षत्रप रुद्रदामा

यूनानी भूगोलज्ञ क्लौडियस टालेमी (Klaudius Ptolemy) ने अपने इतिहास में उज्जैन के टियस्टनस् (Tiastenes of Ozene) का उल्लेख किया है। वास्तव में, यह क्षत्रप चष्टन था। रुद्रदामा इसी चष्टन का पौत्र था।

शक लोगों के कई दल भारतवर्ष में पहली शताब्दी में आ चुके थे। इनके सूबेदार अपने को क्षत्रप (Satarap) कहते थे। पुराने ईरानी "क्षथ्रपावन" का शुद्ध संस्कृत रूप क्षत्रप (पृथ्वी का रक्षक) है। उत्तरी 'क्षत्रप' पार्थियन राजाओं को अपना बादशाह मानते थे। पश्चिमी क्षत्रप ईसवी प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सिन्ध और गुजरात से होते हुए पश्चिमी भारत में आये थे। ये लोग प्रारम्भ में उत्तरी-पश्चिमी भारत के कुषाण राजाओं के सूबेदार मालूम होते हैं। परन्तु अन्त में इनका प्रभाव बहुत बढ़ा और मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध, उत्तरी कोंकण और राजपूताना तक इनका अधिकार हो गया था। ये स्वतंत्र होकर 'महाक्षत्रप' कहलाने लगे। इसके पहले ही ये पौराणिक धर्म मानने लगे थे और ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा के उद्धार में इन लोगों का प्रमुख हाथ रहा है।

मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में १८ शक राज लिखे हैं। विष्णु और भागवत में संख्या १६ बताई है। मंजुश्री-मूल-कल्प में भी १८ ही बताई है। इस तरह १८ शक भूपति तो अनुमानित किये ही जाते हैं। उज्जयिनी के शकों के अनेक सिक्के व शिलालेख अभी तक मिल चुके हैं। पं० भगवद्दत्त जी ने उनका निम्नलिखित वंश-वृक्ष प्रस्तुत किया है :—
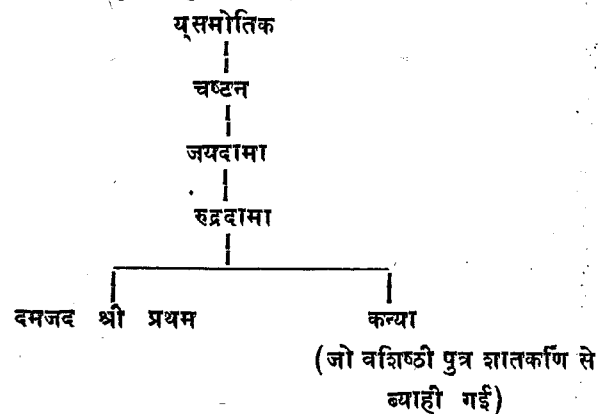
पंडित जनार्दन भट्ट ने भूमक और नहपान को भी चष्टन का पूर्वज माना है। परन्तु त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की गाथा में लिखा है कि "नहपान ने उज्जैन में ४० वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात् चष्टन हुआ। चष्टनों का राज्य २४२ वर्ष रहा। इनके पश्चात् गुप्त हुए।" इसलिए सम्भव है नहपान का चष्टन वंश से कोई सम्बन्ध नहीं रहा हो।

चष्टन का पौत्र रुद्रदामा महाप्रतापी हुआ है। उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण करके आकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति देश, अनूप, आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़), श्वभ्र (उत्तरी गुजरात), मरु (मारवाड़), कच्छ, सिन्ध, सौवीर (मुल्तान), कुकुर (पूर्वी राजपूताना), अपरान्त (उत्तरी कोंकण) और निषाद (भीलों के देश) पर अधिकार कर लिया था। इसने एक बार यौधेय लोगों को और दो बार आन्ध्र राजा पुलुमायि द्वितीय को हराया था। फिर अपनी कन्या का ब्याह इसी राजा से कर दिया था।

अपने राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों में इसने अपने सूबेदार नियुक्त कर रखे थे। एक सुदर्शन झील जूनागढ़ के गिरिनार पर्वत के निकट है। इसको सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य के सूबेदार वैश्य पुष्यगुप्त ने बनवाया था। सम्राट् अशोक के ईरानी सूबेदार तुषास्फ ने इसमें नहरें निकलवाईं थीं। तूफान और अतिवृष्टि के कारण रुद्रदामा के राज्यकाल में सुदर्शन झील का बाँध टूट गया। तब रुद्रदामा के सूबेदार पल्लववंशी सुविशाख ने इसका जीर्णोद्धार कराया। इसी घटना के स्मारक-रूप में गिरिनार पर्वत की चट्टान के पीछे एक प्रशस्ति खुदी हुई है। एक तरफ अशोक का लेख है दूसरी तरफ रुद्रदामा का। इस शिलालेख से ही रुद्रदामन के इतिहास का असली पता चला है। इसके पहले के शिलालेख सब प्राकृत या प्राकृत-मिश्रित संस्कृत में हैं। परन्तु यह प्रशस्ति शुद्ध संस्कृत में है।

उज्जयिनी की प्रसिद्ध विद्यापीठ में रहकर महाक्षत्रप रुद्रदामा ने संस्कृत काव्यकला में कौशल प्राप्त किया था।

शक संवत् ७२ (ई० स० १५०) का गिरनार का यह संस्कृत शिलालेख उत्कृष्ट रचना का उदाहरण है। इसमें लिखा है कि रुद्रदामा व्याकरण, संगीत, तर्क आदि शास्त्रों का प्रसिद्ध ज्ञाता था। धर्म पर उसका बड़ा अनुराग था।

"अर्जितोर्जित धर्मानुरागेण शब्दार्थ गान्धर्व,
न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारण—
विज्ञान प्रयोगावाप्त 'विपुल कीर्त्तिना"—

"स्फुट लघुमधुर चित्रकान्त शब्द समयो--
दारालंकृत गद्य-पद्य (काव्य विधान प्रवीणेन)"

आलंकारिक गद्य और पद्य की रचना में वह बड़ा कुशल था। कवि समयोचित उदारता और अलंकार के साथ साथ स्फुट, लघु, मधुर, विचित्र और सुन्दर शब्दों का वह अच्छा प्रयोग करता था।

भरत के नाटच-शास्त्र में कथित काव्य के गुणों का उल्लेख इस प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से किया गया है। प्रकट है कि रुद्रदामा 'वैदर्भी रीति' के काव्य-शैली से पूर्ण परिचित था।

डाक्टर कीथ ने लिखा है कि "An inscription at Girnar is written in prose (गद्यकाव्यम्) and shows in a most interesting manner the development from the simple epic style to that of the Kavya."

६—संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य महान्

जिस महान् विक्रमादित्य के नाम पर विक्रम संवत् आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व चला था क्या वह विक्रमादित्य ऐतिहासिक पुरुष था? यह प्रश्न इतिहास के प्रसिद्ध विद्वानों में एक विवाद का विषय बना हुआ है। फर्गुसन के मतानुसार, यह संवत् बहुत बाद का चलाया हुआ है। वह कहते हैं कि सन् ५४४ ई० में संवत् स्थापित हुआ और प्राचीनता प्रदान करने के लिए इसका आरंभ ६०० वर्ष पहिले से कर दिया गया। दूसरे विद्वानों ने इस मत को सही नहीं माना। किन्तु अभी तक इस विषय में एकमत नहीं हो पाया कि संवत् प्रवर्तक कौन से विक्रमादित्य थे? विन्सेन्ट स्मिथ और सर भाण्डारकर का मत यह रहा कि पहले यह संवत् 'मालव-संवत्' के नाम से प्रसिद्ध था किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'मालव-संवत्' का नाम बदलकर 'विक्रम-संवत्' कर दिया। कनिंघम और फ्लीट के अनुसार कनिष्क ने यह संवत् प्रारंभ किया। सर जान मारशल और रैप्सन के अनुसार यह संवत् गांधार के शक राजा अयस (Azes) प्रथम ने चलाया। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार गौतमीपुत्र शातकर्णी ने; और श्री राखालदास बनर्जी के अनुसार नहपान ने यह संवत् चलाया। वी० गोपाल ऐय्यर के अनुसार संवत्-प्रवर्त्तक महाक्षत्रप चष्टन था। कीलहोर्न का कहना है कि ईसवी पूर्व ५७ में कोई विक्रमादित्य नाम का राजा नहीं हुआ और न किसी व्यक्ति ने इसका प्रवर्तन किया। कोई कोई यशोधर्मन् को भी संवत्-प्रवर्त्तक मानते हैं। दूसरे विद्वानों ने इन मतों का विद्वत्तापूर्ण खण्डन किया है। डा० राजबली पांडेय की हाल में प्रकाशित अँगरेजी की पुस्तक "विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी" में इन मतों का संकलन और उनका निराकरण विद्वत्तापूर्ण दिखाया गया है। 'विक्रम-स्मृति' ग्रन्थ में भी कई विद्वानों के लेख इस विषय में हैं।

आज केवल दो मत ही चल रहे हैं। प्रथम डाक्टर स्टेन कोनो का मत कि ५७ ईसवी पूर्व में उज्जयिनी में विक्रमादित्य हुए थे जिन्होंने यह संवत् चलाया था। दूसरा मत सर भांडारकर और विन्सेन्ट स्मिथ का कि ऐसा विक्रमादित्य कोई नहीं हुआ और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही 'विक्रमादित्य' विरुद धारण करके मालव संवत् को बदलकर विक्रम संवत् कर दिया और वे ही प्रथम विक्रमादित्य थे और कालिदास उन्हीं के आश्रय में रहे थे। दूसरे मत के सही न मानने के लिए कई कारण हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय के काल का कोई सिक्का

ऐसा नहीं मिला जिस पर "विक्रमाब्द" अथवा "विक्रम-संवत्" लिखा हुआ हो। वास्तव में, चन्द्रगुप्त प्रथम ने 'गुप्त संवत्' स्थापित किया था। उसके अनन्तर भी जो सिक्के मिले हैं वह "मालवानां गणस्थित्या" इत्यादि वचनों से प्रारंभ होते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय उज्जैन के निवासी नहीं थे;' वह पाटलिपुत्र एवं मगध के राजा थे और उज्जयिनी में अयोध्या के बाद आये थे। वे उज्जयिनी के शकारि विक्रमादित्य नहीं हो सकते। तीसरा कारण यह है कि उनके शासन-काल में सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान आया था। उसने उनके शासन-व्यवस्था की अत्यधिक प्रशंसा की है। वह भारत भर में १४ वर्ष घूमता रहा। यदि चन्द्रगुप्त ही वह आदर्श विक्रमादित्य होते जो "पितृहीनों का पिता, बन्धुरहितों का बन्धु, अनाथों का नाथ और प्रजा का सर्वस्व था" और यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ संसार-प्रसिद्ध कवि-सम्राट् कालिदास होते तो यह संभव नहीं कि फाहियान अपने यात्रा वर्णन में उनका उल्लेख न करते। किन्तु सोचने की बात यह है कि फाहियान ने अपने यात्रा-संबंधी वर्णनों में कहीं पर भी न तो 'विक्रमादित्य' का, न 'विक्रम-संवत्' का और न कालिदास का ही उल्लेख किया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय 'शकारि' थे इसमें संशय नहीं। किन्तु वह अपने भाई रामगुप्त की हत्या करके एवं अपने भाई की स्त्री का अपहरण करके सिंहासनारूढ़ हुए थे। उनके साम्राज्य का कितना ही विस्तार क्यों न हुआ हो, भारतीय हृदयों में भाई की हत्या के कारण, वह आदर्शरूप में तो राजा नहीं माने जा सकते थे। 'विक्रमादित्य' नाम में जनता को मुग्ध करने का जो आकर्षण और तेज होना चाहिए वह तो उनमें नहीं हो सकता था। अतएव इसमें संशय नहीं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय 'प्रथम विक्रमादित्य' नहीं थे। केवल उनका विरुद विक्रमादित्य था। उनके पूर्व उनके पिता समुद्रगुप्त ने भी 'सिंह विक्रम' "व्याघ्र पराक्रम" लिखवाकर अपने सिक्के चलाये थे। उसके भी पूर्व गौतमीपुत्र शातकर्णी की प्रशंसा "वरन वारण विक्रम" एवं "चारु विक्रम" लिखकर की गई थी। अतएव प्रथम विक्रमादित्य कोई बहुत पूर्व हुए थे इसमें तो शंका नहीं होनी चाहिए।

श्री विंसेन्ट स्मिथ ने 'हाल' का समय ईसवी सन् ६८ (वि० सं० १२५) अनुमान किया है। 'हाल' की 'गाथा सप्तशती' प्राकृत की प्रसिद्ध पुस्तक है। उसके ६५वें श्लोक में विक्रमादित्य की दानशीलता का उल्लेख इस प्रकार है:—

> संवाहण सुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
> चलणेण विक्कमाइच्च चरिं अणु सिक्खिअँ तिस्सा ।।

संस्कृत अनुवाद

संवाहन-सुखरस तोषितेन ददता तव करे लक्षम्
चरणेन विक्रमादित्य चरितमनुशिक्षितं तस्याः

(पति अपनी प्रिया के चरण हाथ में ले रहा था। वे चरण लाख (महावर) लगे हुए थे अतः पति के हाथ में भी लाख लग गई। 'लाख' के दो अर्थ लगाकर कवि कहता है कि प्रिया के चरणों ने विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण करके पति को लाख दे दिये।)

इस पद्य से इतना तो स्पष्ट है कि 'हाल' के समय में भी विक्रमादित्य की महान् उदारता प्रसिद्ध थी। अवश्य ही महाप्रतापी विक्रमादित्य हाल के पूर्व हुए होंगे।

विक्रमादित्य के संबंध में जो भ्रामक मत कुछ विद्वानों ने प्रकट किये हैं उनके एकमात्र कारण कुछ अभिलेख एवं मुद्रा हैं। जो अभी तक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं उनमें संवत् २८२ से ४८१ तक की मुद्राओं में "कृत संवत्" का उल्लेख है; यथा "कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु" इत्यादि। संवत् ४६१ से ९३६ तक की मुद्राओं में "मालव संवत्" लिखा है। संवत् ४६१ के मन्दसौर के अभिलेख में "कृत" तथा "मालव" दोनों संज्ञाएँ हैं जिसका अर्थ यही है कि दोनों में कोई भेद नहीं है यथा—

श्री मालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते
एक षटचधिके प्राप्ते समाशत चतुष्टये

विक्रम संवत् के नाम से जो अभी तक अभिलेख मिले हैं उनमें सबसे प्रथम धौलपुर के चण्ड महासेन का शिलालेख संवत् ८९८ का है जो इस प्रकार है :—

वसुनवाष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य
वैशाखस्यं सितायां रविवार युत द्वितीयायां॥

इसके अनन्तर सभी मुद्राएँ व शिलालेख विक्रम-संवत् के मिले हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि गणना में, 'कृत' 'मालव' एवं 'विक्रम' संवतों में कोई अन्तर नहीं रहा। 'मालव संवत्' को कहीं 'मालवेश' और कहीं "मालवानां गणस्थित्या" प्रारंभ करके लिखा गया है। जो मुद्राएँ मिलती हैं उनमें एक ओर तो सूर्य अथवा सूर्य का चिन्ह है और दूसरी ओर "मालवानां जयः" "मालवगणस्य जयः" अथवा "जय मालवानां जयः" लिखा हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो संवत् चलाया गया था वह किसी महान् विजय के होने पर चलाया गया था और वह विजय मालवगण की किसी विदेशी शत्रु पर हुई थी। यह भी पता चलता है कि मालवगण सूर्य के उपासक थे अथवा किसी सूर्य के नेतृत्व में यह विजय प्राप्त हुई थी।

'अंगुत्तर निकाय' में अवन्ति का जनपद प्रसिद्ध था। जैन ग्रंथों में 'मालव गणतंत्र' का उल्लेख हुआ है। फलित ज्योतिष में, प्रारंभ से ही, यह धारणा रही है कि तृतीय सूर्य, जातक को, सिंह तुल्य पराक्रमी बनाता है। तृतीय को "विक्रम" का पर्य्यायवाची माना है यथा "विक्रमाधिपतौ स्वोच्चे" (जातक पारिजात अध्याय १२ श्लोक ३३) अथवा "लग्ने गुरौ विक्रमनाथ-युक्ते" (वही; श्लोक ३८) इत्यादि। ज्योतिष में तीसरे सूर्य को ही "विक्रमार्क" कहा जाता है। जहाँ 'जय' अथवा 'विजय' के साथ सूर्य की मूर्ति हो अथवा सूर्य का चिह्न हो वहाँ "विक्रमार्क" अथवा "विक्रमादित्य" का ही बोध होगा। अतः मुद्राओं से, तो, विक्रम संवत् अथवा मालव-संवत् में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जब तक और शिलालेख अथवा मुद्राएँ नहीं मिलतीं तब तक इस मत से संतोष करना पड़ेगा कि उन दिनों मालवा की शासन-प्रणाली प्रजातंत्र की प्रणाली थी। जनतंत्र में महान् विजय का यश किसी व्यक्ति-विशेष को देना, संघ में एकता बनाये रखने के लिए, उचित नहीं था। अतः स्पष्ट रूप से 'विक्रम संवत्' का नाम नहीं दिया गया किन्तु शकों के पराभव की महत्वपूर्ण घटना से विक्रम का नाम एक दीर्घ काल तक अलग भी नहीं रखा जा सकता था अतएव मालवगण के प्रधान विक्रमादित्य का नाम अनुश्रुति, उपश्रुति, कथा, पुराण द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करता चला गया; और, गण-शासन के समाप्त होने पर, कालान्तर में, 'मालव-संवत्' 'विक्रम-संवत्' में परिवर्तित हो गया। 'कृत' का अर्थ 'सत्ययुग' बताया गया है। किन्तु श्री जगनलालजी गुप्त का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है जिसके अनुसार 'कृत' के स्थान में 'कृत्त' पढ़ना चाहिए। राजनीति में शत्रु-वध के लिए "कृत्या" प्राचीन ग्रंथों में सर्वत्र व्यवहृत किया गया है और उसी का रूप "कृत्य" अथवा 'कृत्त' हो सकता है (हिन्दी विक्रम-स्मृति ग्रंथ; पृष्ठ ७१)। डाक्टर बिमलाचरण ला का कथन है कि स्कन्द पुराण के अनुसार 'क्रत' नर्वदा में मिलने वाली एक नदी का नाम था। जिसके किनारे पर मालवों ने शकों को पराजित किया था इसलिए "क्रत" संवत् का प्रवर्तन हुआ।

इन सारी बातों से, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मालवगण के प्रधान विक्रमादित्य ने शत्रुओं पर महान् विजय प्राप्त करके संवत् का प्रवर्त्तन किया जो पहले 'कृत' अथवा 'कृत्य' और फिर 'मालवगणानांजयः' के नाम से और फिर 'विक्रम-संवत्' के नाम से प्रचलित हुआ। संसार में यह संवत् सबसे अधिक प्राचीन है।

हमारा यह भी विचार है कि इन्हीं विक्रमादित्य के समकालीन संसार-प्रसिद्ध कवि कालिदास थे। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से पाया जाता है कि

सिंधु नदी के दक्षिणी तट पर पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ में छोड़े हुए घोड़े को यूनानियों ने रोक लिया था और उसके पोते ने उनको पराजित किया था। 'मालविकाग्निमित्र' में विदर्भ का जो वृत्तान्त दिया है उससे भी पता चलता है कि कालिदास का आविर्भाव शुंगवंश के अन्तिम काल में हुआ होगा। ईसवी पूर्व ७२ में शुंगवंश का अन्तिम राजा मारा गया था। स्पष्टतः कालिदास ने विक्रमादित्य का नाम अपने किसी ग्रंथ में नहीं लिया। उनके उज्जयिनी से ऊपर प्रेम तो मेघदूत में प्रत्यक्ष दिखाई देता है परन्तु उस समय के राजा के नाम के लिखने की कोई आवश्यकता तो नहीं आ पाई होगी। कालिदास महान् कलाकार एवं कवि थे; कोई भाट या प्रशस्ति लेखक तो नहीं थे। 'विक्रमोर्वशीय' के अन्तर्गत तो राजा पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम-परिणय दिखाई पड़ता है किन्तु नाटक का नाम 'विक्रमोर्वशीय' है। स्कन्दपुराण के 'अवन्ती खण्ड' से यह पता चलता है कि उज्जयिनी के 'महाकालवन' को अप्सरातीर्थ भी कहते थे और इसी अप्सरातीर्थ में उर्वशी और पुरुरवा का प्रणय हुआ था। कालिदास के नाटक की भूमि उज्जयिनी है इसमें तो शंका नहीं रहती। नाटक के शीर्षक में 'विक्रम' लगाकर या तो 'विक्रमादित्य' को ही पुरुरवा बताया गया है या विक्रमादित्य के किसी प्रणय-रहस्य को नाटक में इंगित किया गया है। नाटक के नाम के साथ 'विक्रम' का नाम सोद्देश्य प्रतीत होता है। कतिपय विद्वानों ने (जिनमें सर विलियम जोन्स और डाक्टर पीटरसन सम्मिलित हैं) अनेकानेक वैसे कारण बताए हैं जिनसे इस मत की पुष्टि होती है कि कालिदास ईसवी पूर्व ५७ में विक्रमादित्य के समकालीन थे। वास्तव में, अनुश्रुति में, विक्रम और कालिदास अभिन्न से हो गये हैं। इसी की देखा-देखी यह परिपाटी बाद में चल गई कि जो राजा 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करता था वह अपने दरबार में किसी कवि को 'कालिदास' भी बना देता था। इसी कारण कालिदास के संबंध में भी अनेकानेक भ्रामक मत प्रचलित हो गये।

विक्रमादित्य के संबंध में "कालकाचार्य कथानक", 'कथा-सरित्सागर' एवं 'भविष्य पुराण' में विशेष विवरण दिया हुआ है। डाक्टर स्टैन कोनो ने 'कालकाचार्य-कथानक' को ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय माना है। रैप्सन एवं नार्मन ब्राउन ने इस मत का समर्थन किया है। आचार्य कालक एक राजवंश में जन्मे थे। कालान्तर में वे प्रसिद्ध जैन मुनि हुए। उनकी साध्वी बहिन सरस्वती पर आसक्त होकर उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने उसको अपने अन्तःपुर में डाल लिया। सूरि कालक ने बहुत अनुनय विनय की पर कामान्ध राजा नहीं माना। क्रुद्ध होकर, कालकाचार्य ने राजा गर्दभिल्ल के उन्मूल करने

का प्रण किया और अवन्ति देश का परित्याग करके सिन्धु देश (शक कुल) को प्रस्थान किया। वहाँ के ९६ साहि (सामन्त) से वहाँ का नरेश (साहानुसाहि) अप्रसन्न था। आचार्य कालक की सलाह लेकर, वे ९६ साहि 'हिन्दुकदेश' को चल दिए। पहले सौराष्ट्र जीता; फिर उज्जैन आकर गर्दभिल्ल राजा पर विजय प्राप्त की। कालक की सहायता से उज्जैन में शकों का राज्य प्रारंभ हुआ। कालान्तर में, प्रजा शक-राज्य से तंग आ गई। तब गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने सेना एकत्रित करके शकों को युद्ध में पराजित किया। पृथ्वी पर विक्रमादित्य जैसा कोई वीर नहीं हुआ। अनेक नरेन्द्रों को उसने युद्ध में पराजित किया। अपने सुकार्यों से उसने सुन्दर कीर्त्ति का संचय किया और कुबेर को प्रसन्न करके शत्रु तथा मित्र को अगणित दान दिये और अपार धन-राशि लुटाकर सभी को ऋण-मुक्त करके अपने संवत्सर का प्रवर्त्तन किया। विक्रम संवत् के १३५ वर्ष बाद शक फिर आये और शक-संवत् चलाया। इस कथा का समर्थन मेरुतुंग रचित "प्रबन्ध चिन्तामणि" एवं अन्यान्य प्राचीन जैन-ग्रंथों से भी होता है।

विक्रम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण उनके संबंधी कथाओं का भारतीय भाषाओं में विशाल साहित्य है। बेताल-पच्चीसी, सिंहासनबत्तीसी, शुक-सप्तति आदि कथाएँ भारत के प्रान्त-प्रान्त में व्याप्त हैं। इन कथाओं का उद्गम क्षेमेन्द्र-रचित बृहत् कथा-मंजरी (ई० १०५०) और सोमदेव-रचित कथा-सरित्सागर (१०७० ई०) ही हैं। इनका भी आधार पैशाची भाषा में गुणाढ्य-रचित "बृहत्-कथा" है जो अब लुप्त है। गुणाढ्य का विस्तृत वर्णन हम तृतीय भाग में लिख रहे हैं। गुणाढ्य की 'बृहत्-कथा' पर नैपाली बुद्ध स्वामी रचित श्लोक-संग्रह भी आधारित है। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप के अनुसार, गुणाढ्य पहली या दूसरी शताब्दी में हुए थे और उन्होंने 'बृहत्कथा' में विक्रमादित्य के चरित्र का विस्तार से वर्णन किया था और "कथासरित्सागर" आदि में वही कथा लिखी गई है। उज्जयिनी के शकारि विक्रमादित्य का वर्णन 'कथा-सरित्सागर' के अठारहवें लम्बक में और क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा-मंजरी' के दसवें लम्बक में है। विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना बताया है। भगवान् शिव के वरदान से महेन्द्रादित्य के पुत्र हुआ जिसका नाम, शिवजी के आदेशानुसार, 'विक्रमादित्य' तथा 'विषमशील' रखा। जब विक्रमादित्य युवा हुए, तब महेन्द्रादित्य ने विक्रम को अभिषेक किया और स्वयं तप करने वन में चले गये। विक्रमादित्य बड़ा शूरवीर हुआ उसकी सेना सम्पूर्ण दिशाओं में सूर्य की किरणों की भाँति व्याप्त हो गई थी। उसने दक्षिणापथ, सौराष्ट्र, मध्यदेश, बंग, अंग, काश्मीर, कौवेरी, दुर्ग एवं द्वीपों पर महान् विजय

प्राप्त की थी और म्लेच्छ संघों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। वह पितृहीनों का पिता था, बन्धुहीनों का बन्धु था, अनाथों का नाथ एवं प्रजाजनों का सर्वस्व था।

ऐसा ही वर्णन भविष्य-पुराण के प्रतिसर्ग पर्व में भी मिलता है। भविष्य-पुराण में गंधर्वसेन राजा के वीरमती नामक देवांगना से विक्रमादित्य का जन्म बताया गया है।

सभी कथा-ग्रंथों में उनके राज्य-विस्तार, शौर्य, दान एवं परोपकार की अनेकानेक कथाएँ भरी पड़ी हैं। वास्तव में, आज 'विक्रमादित्य' शब्द से भारतीय राजत्व का आदर्श, भारतीय देशभक्ति का प्रतिनिधि एवं भारतीय संस्कृति का प्रतीक बोध होता है।

७—श्री विक्रम के नवरत्न

महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों की कथा बहुत प्राचीन है। परन्तु इसका प्रमाण केवल 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथ के निम्नलिखित श्लोक में ही पाया जाता है :—

"धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥"

इस श्लोक के आधार पर ही विक्रम के नवरत्न (१) धन्वन्तरि (२) क्षपणक (३) अमरसिंह (४) शंकु (५) वेतालभट्ट (६) घटखर्पर (७) कालिदास (८) वराहमिहिर और (९) वररुचि बताये जाते हैं। प्रोफेसर कर्न के साथ साथ कई प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पुरातत्त्व वेत्ताओं ने इस श्लोक के साथ साथ 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ को भी जाली बतलाने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि "ज्योतिर्विदाभरण" ग्रन्थ प्रसिद्ध कवि कालिदास का बनाया हुआ नहीं है परन्तु किसी अन्य गणक कालिदास ने ११६४ शाके में इसकी रचना की थी। इसलिए इसका प्रमाण कहाँ तक मान्य हो सकता है इस विषय में बहुत वादविवाद चल रहा है।

हमारी राय में भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री अब भी भूमि के नीचे दबी हुई पड़ी है और जब तक सिलसिलेवार प्रान्त-प्रान्त में, उत्खनन नहीं होता तब तक प्राचीन इतिहास के विषय में एकमत निश्चित कर लेना अत्यन्त कठिन है। मोहन-जो-दारो और हड़प्पा के उत्खनन के अनन्तर प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध में जिस शीघ्रता से दृष्टिकोण बदला है वह किसी से छिपा नहीं है। संभव है उज्जयिनी में उत्खनन होने के अनन्तर हमें वह सामग्री उपलब्ध हो सके जिससे विक्रमादित्य-काल के विषय में वह सारे मत बदलने पड़ें जो आज प्रचलित किये जा रहे हैं। यह कहना कठिन है कि जितनी मुद्रा, और जितने सिक्के उपलब्ध हो सकते थे वे सब उपलब्ध हो चुके। यह कहना और भी कठिन है कि सारे ऐतिहासिक ताम्रपत्र, शिलालेख और हस्त-लिखित पुस्तकें जो आवश्यक हैं इतिहासकारों के सम्मुख आ चुके हैं।

इन परिस्थितियों में विक्रमादित्य और विक्रम-सम्बन्धी काल के विषय में पुरानी जनश्रुतियों को बिलकुल मिथ्या बतलाना समीचीन प्रतीत नहीं होता। इतिहासकार भले ही कहते रहें कि 'ज्योतिर्विदाभरण' में बतलाये हुए नौ विद्वानों

का एक काल में होना इतिहास से सिद्ध नहीं होता; परन्तु जब तक प्राचीन इतिहास की सारी सामग्री को ऊपर लाने का प्रयत्न नहीं होगा तब तक अपर्याप्त सामग्री के आधार पर इतिहासकारों के कथन से लोकमत सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

'ज्योतिर्विदाभरण' पर भी कहीं कहीं भ्रान्तिपूर्ण आलोचनाएँ हुई हैं परन्तु उस पर एक स्वतंत्र लेख लिखना ही उपयुक्त होगा। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' कभी भी लिखा गया हो उसके ग्रन्थकार को मिथ्या लिखने की आवश्यकता नहीं थी। कम से कम, इतना मानना उपयुक्त होगा कि जैसी जनश्रुति ग्रंथकार के काल में थी वैसी ही उसने लिख दी।

वराहमिहिर की बृहत्-संहिता के अँगरेजी अनुवाद की भूमिका में स्वयं प्रोफेसर कर्न महोदय ने ही संवत् १०१५ (९४८ ई०) के बुद्धगया में प्राप्त उस शिलालेख का उल्लेख किया है जिसमें विक्रमादित्य के "नवरत्नानि" में से प्रसिद्ध पंडित अमरदेव की प्रशंसा की गई है। यह अमरदेव कोषकार अमरसिंह ही हैं ऐसा विद्वानों का मत है। कम से कम इतना सत्य है कि आज से एक हजार वर्ष पूर्व विक्रम के नवरत्नों का अस्तित्व माना जाता था।

(१) क्षपणक

'क्षपणक' प्राचीन काल में जैन साधु को कहते थे। मुद्रा-राक्षस में 'क्षपणक' के भेष में जासूस का रहना बताया गया है। 'शंकर दिग्विजय' में उज्जयिनी में शंकर का शास्त्रार्थ किसी क्षपणक से होना लिखा है।

विक्रमादित्य के काल में जैन पंडितों में केवल श्री सिद्धसेन दिवाकर का अस्तित्व माना जाता है। जैन-ग्रंथों में विक्रम के ऊपर उनका अत्यधिक प्रभाव भी बताया गया है। जैन आगम ग्रंथों का संस्कृत भाषा में लिखने का प्रयत्न भी सिद्धसेन दिवाकर ने किया था ऐसा भी प्रसिद्ध है। इन कारणों से श्री सिद्धसेन दिवाकर को ही क्षपणक बताया जाता है।

'ज्योतिर्विदाभरण' के एक दूसरे श्लोक में विक्रमकालीन वैज्ञानिकों के नाम लिखे हैं जिनमें वराहमिहिरि, सत्यश्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह के नाम आते हैं। टीकाकारों ने सिद्धसेन दिवाकर का दूसरा नाम श्रुतसेन बतलाया है।

सिद्धसेन ज्योतिष में और तंत्र में भी पारंगत थे और सम्भव है वे विक्रम के नवरत्नों में रहे हों। परन्तु जो प्रमाण लिखे गये हैं वे अकाट्य नहीं हैं। जैन साधु का एक ही स्थान पर रहना अधिक उपयुक्त नहीं जँचता। सम्भव है क्षपणक कोई अन्य नैयायिक हो।

(२, ३) शंकु और वेतालभट्ट

वास्तव में क्षपणक, शंकु और वेतालभट्ट के जीवन के सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। शंकु का नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' के ८वें श्लोक में भी पाया जाता है यथा:—

"शंकुः सुवाग्वररुचिर्मणिरंगुदत्तो जिष्णुस्त्रिलोचनहरी घटकर्पराख्यः।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी॥"

(अर्थात् विक्रम की सभा में ९ सभासद थे:—(१) शंकु (२) वररुचि (३) मणि (४) अंगुदत्त (५) जिष्णु (६) त्रिलोचन (७) हरि (८) घटखर्पर और (९) अमरसिंह।)

इससे शंकु का एक प्रसिद्ध विद्वान् तो होना सिद्ध होता है।

एक प्राचीन श्लोक ऐसा भी बताया जाता है जिसमें लिखा है कि शबर स्वामी ने ४ वर्णों की स्त्रियों से विवाह किया था। ब्राह्मण स्त्री से वराहमिहिर ने जन्म लिया। क्षत्रिय स्त्री से भर्तृहरि और विक्रमादित्य ने जन्म लिया। वैश्य स्त्री से हरिश्चन्द्र और शंकु ने जन्म लिया और शूद्र स्त्री से अमरसिंह ने जन्म लिया।

इस श्लोक का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि 'साबर भाष्य' के कर्ता श्री शबर स्वामी ने चार वर्णों के शिष्यों को विद्या प्रदान की थी। और शंकु एक वैश्य थे और विक्रम के गुरुभाई रहे होंगे। कोई कोई इनको मन्त्रवादिन् और कोई कोई इनको प्रसिद्ध रसाचार्य शंकु बतलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कई किंवदन्तियों में इनको स्त्री भी बतलाया है। कोई इनको ज्योतिषी भी बतलाते हैं।

शंकु से भी कम परिचय वेतालभट्ट का मिलता है। प्राचीनकाल में 'भट्ट' या 'भट्टारक' पंडितों की भी एक बड़ी उपाधि हुआ करती थी। सम्भव है यह भी एक बड़े पंडित हों और यह भी सम्भव है कि "वेताल पंचविंशतिका" सरीखे कथाओं के यह ही ग्रंथकर्त्ता रहे हों। उज्जयिनी के महाकाल-श्मशान से इनका सम्बन्ध बताया जाता है। कथा यह है कि रोहणगिरि से विक्रम अग्निवेताल को जीतकर लाये थे और अग्निवेताल से उनको अद्भुत एवं अदृश्य सहायता मिलती रही। सम्भव है साहित्यिक होते हुए भी भूत, प्रेत, पिशाच-साधना में यह पारंगत रहे हों। यह भी सम्भव है कि आग्नेय अस्त्र एवं विद्युत्-शक्ति में यह पारंगत हों और विक्रमादित्य के राज्य में कापालिक या तान्त्रिकों के प्रतिनिधि रहे हों और इनकी साधना-शक्ति से राज्य को लाभ होता रहा हो।

(४) अमरसिंह

राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार अमर ने उज्जयिनी (विशाला) में शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सबसे पहला संस्कृत कोष जो प्राप्त है अमरसिंह का "नामलिंगानुशासन" है जो अब अमरकोष के नाम से प्रसिद्ध है। अमरकोष में कालिदास का नाम आता है। मंगलाचरण में बुद्धदेव की प्रार्थना है और कोष में बौद्ध शब्द और विशेषकर महायान सम्प्रदाय के शब्द भी बहुत पाये जाते हैं, जिनसे बौद्धकाल और कालिदास के बाद में अमरकोष का लिखा जाना प्रतीत होता है।

जिनेन्द्र बुद्धि ने सन् ७०० ई० में 'न्यास' लिखा है। अमरकोष उसके बहुत पहले का होगा। क्योंकि उसमें अमर का नाम श्रद्धा से लिया गया है। अमरकोष पर बहुत से आचार्यों ने टीका लिखी है। ग्यारहवीं सदी में क्षीरस्वामी की टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। वंद्यघाटीय सर्वानन्द ने ११५९ में और रायमुकुट ने १४३१ ई० में अमरकोष पर टीका लिखी है जिनसे पता चलता है कि सन्त मेधावी १६ आचार्य इनके पहले टीका लिख चुके थे। संस्कृत कोषग्रंथों में इतनी टीकाएँ किसी पर भी नहीं लिखी गई हैं।

(५) घटकर्पर

शंकु और घटकर्पर के नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' में दो बार आये हैं और घटकर्पर का भी विद्वान् पंडित होना निश्चित ही है। इनके नाम 'घटकर्पर' और 'घटखर्पर' दोनों ही पाये जाते हैं।

सम्भव है इन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे हों परन्तु इस समय इनके नाम का एक ही काव्य बताया जाता है जो २२ श्लोकों में है। कालिदास के मेघदूत की तरह इसमें एक विरहिणी नवयुवती अपने परदेशस्थ पति को मेघों द्वारा संवाद भेजती है। इस काव्य में यमकालंकार की भरमार है। कवि ने यहाँ तक कहा है कि अनुप्रास, यमक और शाब्दिक चमत्कार की प्रतियोगिता में दूसरा कवि उसके बराबर नहीं हो सकता। अगर कोई हो तो टूटे घड़े में पानी उसके यहाँ पहुँचाने को तैयार हैं। "तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण"। काव्य साधारण श्रेणी का ही है परन्तु प्रतिभा अवश्य है।

बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों ने इस पर टीकाएँ लिखी हैं जिनमें अभिनवगुप्त, शान्तिसूरि, भरतमल्लिका, शंकर, रामपति मिश्र, गोविन्द, कुशलकवि, कमलाकर, ताराचन्द और वैद्यनाथ देव की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। कई विद्वानों का मत है कि यह काव्य कालिदास का ही लिखा हुआ है और यह उनके

प्रारंभिक-काल की रचना है। मेघों द्वारा प्रेमिका ने दूरस्थ पति को सन्देश भेजने का २२ श्लोकों का यह दूत-काव्य उस महाकाव्य का प्रवर्त्तक है, जो परिपक्वावस्था में कालिदास ने मन्दाक्रान्ता छन्द और अत्यन्त कोमलकान्त-पदावलि में 'मेघदूत' के नाम से लिखा था। अभिनवगुप्त ने टीका में लिखा है "अत्र कर्त्ता महाकविः कालिदास इत्यनुश्रुतमस्माभिः"। कमलाकर और ताराचन्द्र और अन्य टीकाकारों ने भी इसी बात को सही माना है। परन्तु गोविन्द एवं वैद्यनाथ देव घटखर्पर कवि को स्वतंत्र मानते हैं।

दूसरा मत यही है कि 'घटखर्पर' काव्य से ही 'कालिदास' के 'मेघदूत' काव्य को प्रोत्साहन मिला है और 'घटखर्पर' स्वतंत्र कवि था। रघुवंश, कुमार-सम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार के श्लोकों में घटखर्पर के विचार साम्य दृष्टि-गोचर होते हैं। 'घटखर्पर' का एक दूसरा छोटा काव्य 'नीतिसार' भी बताया जाता है।

'घटकर्पर' या 'घटखर्पर' नाम अवश्य ही विचित्र प्रतीत होता है। घटकर्पर काव्य का अन्तिम श्लोक है :—

"भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयमालभ्य चाम्बु तृषितः करकोशपेयम्।
जीयेय येन कविना यमकैः परेण तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥"

काव्य के अन्तिम शब्द "घटकर्परेण" से ही काव्य का नामकरण 'घटकर्पर' हुआ और फिर कवि का नाम भी 'घटकर्पर' होकर वह विक्रम के नवरत्नों में बताया गया, ऐसा कई विद्वानों का मत है। यह मत सही मान लेना उचित न होगा। यह सम्भव है कि इसी बहाने कवि ने अपना नाम काव्य के अन्त में रखा हो।

जो कुछ भी हो 'घटखर्पर' नाम अत्यन्त विलक्षण है। सम्भव है कि इनका नाम कुछ और हो, परन्तु इसी नाम से प्रसिद्धि पाई हो। सम्भव है कि यह नामकरण भी कुछ विशेष कारणवश किया गया हो।

विक्रम के इतने भारी साम्राज्य का शासन यह नौ कोरे पंडित और कवि ही किया करते थे ऐसा सही नहीं हो सकता। वास्तव में नवग्रहों के आधार पर ही नवरत्नों की सृष्टि की गई होगी। विक्रम-आदित्य के साथ (नवग्रह की भाँति) नवरत्न होना समीचीन है। एक एक रत्न के पास एक एक शासन विभाग होने की कल्पना अनुचित न होगी।

धन्वन्तरि के पास स्वास्थ्य-विभाग, वररुचि के पास शिक्षा-विभाग, कालिदास के पास संगीत, काव्य और कला-विभाग, क्षपणक के पास न्याय, अग्निवेताल के पास सेना व तांत्रिक कापालिक और विद्युत्-शक्ति-विभाग होने की कल्पना की जा सकती है।

हमारा प्राचीन आदर्श महान् था। एक विषय में पारंगत होते हुए भी मन, वाणी और शरीर की शुद्धता के लिए अन्य विषयों पर भी वही विशेषज्ञ ग्रन्थ लिखा करते थे। जो महर्षि पतञ्जलि को महाभाष्यकार ही समझते हैं वह भूल करते हैं। उन्होंने व्याकरण, योग और वैद्यक तीनों पर अलग अलग प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे थे। राजा भोज की 'न्यायवार्तिका' में पतञ्जलि के प्रति श्रद्धाञ्जलि का निम्नलिखित श्लोक हमारे प्राचीन भारत के आदर्शों का सूचक है :—

"योगेन चित्तस्य, पदेन वाचां, मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥"

(मुनियों में श्रेष्ठ उन पतञ्जलि को वन्दना करता हूँ जिन्होंने (१) महाभाष्य के द्वारा वाणी की अशुद्धता मिटाई, (२) योगसूत्र लिखकर चित्त की अशुद्धता मिटाई, और (३) वैद्यक-ग्रन्थ लिखकर शरीर का मैल हटाया।)

सम्भव है शंकु और घटखर्पर भी विद्वान् और कवि होते हुए भी किसी विषय में विशेषज्ञ होंगे और शासन का कोई विभाग इनके पास रहा होगा। विक्रमादित्य का काल महायान तंत्र का काल था जिसने व्याड़ि और नागार्जुन सरीखे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को जन्म दिया था। मध्यभारत और उज्जयिनी में महायान तंत्र का बहुत प्रचार रहा था, ऐसा कुब्जिका तंत्र में पाया जाता है। दरबार पुस्तकालय नेपाल में जो पुस्तक सुरक्षित है वह प्रति छठवीं शताब्दी की है उसमें यह श्लोक मिलता है :—

"दक्षिणे देवयानौ तु पितृयानस्तथोत्तरे।
मध्यमे तु महायानं शिवसंज्ञा प्रजीयते ॥"

इस काल में शैव और बौद्ध तंत्रों का सम्मिलन हो रहा था और देश के लिए नवीन आविष्कार किये जा रहे थे। शिव को "पारद" (पारा-Mercury) का जन्मदाता बताकर "षड्गुणबलिजारित" पारद से ताम्रं का सुवर्ण बनाये जाने की रीति निकाली गई थी। योगीश्वर शिव के नाम पर देश की आर्थिक अवस्था में सुधार किया जा रहा था। 'पारद के आधार पर वायुयान वायु में उड़ने लगे थे, ताम्र का सोना बनने लगा था और भारत की साम्पत्तिक अवस्था नवीन आविष्कारों के सहारे दिन पर दिन उन्नति करने लगी थी और पारद एवं जसद (zinc) का उन दिनों बोलबाला था। महाकालतंत्र, कुब्जिकातंत्र, रुद्रयामलतंत्र व अन्य तांत्रिक ग्रन्थों में इन्हीं दोनों की महिमा पाई जाती थी।

रुद्रयामल तंत्र में धातुमञ्जरी में जसद के पर्य्यायवाची शब्द निम्नलिखित बताये गये हैं:—

जासत्वं च जरातीतं राजतं यशदायकम्।
रुप्यभ्राता, वरीयश्च, त्रोटकं, कोमलं लघुम्॥
चर्मकं, खर्परं, चैव, रसकं, रसवर्द्धकम्।
सदापथ्यं, बलोपेतं, पीतरागं सुभस्मकम्॥

(जस्ता के पर्यायवाची शब्द जासत्व, यशद, यशदायक, रुप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, और रसक थे।)

'जसद' यशदायक का अपभ्रंश है और 'यशदायक' (जसद) शब्द में ही जसद की प्रशंसा निहित है। उन दिनों यह नवीन आविष्कार देश की अमूल्य सम्पत्ति हो रहा था। इसी का पर्यायवाची शब्द 'खरपर' भी था।

उस समय के वैज्ञानिक आविष्कारों को देखकर, स्वतंत्र राज्य स्थापित करनेवाले विक्रमादित्य ने आविष्कारों का विभाग अलग स्थापित करके एक विशेषज्ञ को सौंप दिया हो तो आश्चर्य की बात तो नहीं हो सकती। और किसी कारणवश उस विशेषज्ञ का नाम ही 'घटखर्पर' पड़ गया हो तो भी आश्चर्य नहीं। घड़े में जसद रखनेवाले को 'घटखरपर' कहते होंगे, ऐसा हमारा मत है। इस विषय में प्रमाण का अवश्य अभाव है।

वास्तव में विक्रमकालीन भारतीय अवस्था का अधिक हाल तांत्रिक ग्रन्थों में मिल सकता है। उज्जयिनी और महाकाल का अधिक सम्बन्ध तांत्रिकों और कापालिकों और तंत्र-ग्रन्थों से रहा है और इसी लिए जब तक तंत्र-ग्रन्थों के आधार पर अनुसन्धान न हों तब तक घटखर्पर, शंकु और वेतालभट्ट सम्बन्धी पहेलियाँ आसानी से सुलझ नहीं सकतीं।

(६) वररुचि

राजशेखर ने लिखा है कि वररुचि शास्त्रकार की परीक्षा में पाटलिपुत्र में उत्तीर्ण हुए थे। कथासरित्सागर के अनुसार वररुचि का दूसरा नाम कात्यायन था। वह शिवजी के पुष्पदन्त नामक गण के अवतार थे। शिवजी के शाप से कौशाम्बी में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिया और पाँच वर्ष की अवस्था में ही पितृहीन हो गये थे। प्रारम्भ से ही श्रुतधर थे। एक बार अकस्मात् व्याड़ि और इन्द्रदत्त दो विद्वान् इनके घर आए और कौतुकवशात् व्याड़ि ने प्रातिशाखा का पाठ किया जिसको वररुचि ने वैसे-का-वैसा ही दुहरा दिया। इस पर व्याड़ि और इन्द्रदत्त इनको पाटलिपुत्र ले गये। वहाँ वर्ष और उपवर्ष से शिक्षा प्राप्त की। वहीं पाणिनि पढ़ रहे थे जिनको पहले शास्त्रार्थ में परास्त किया। तदनन्तर स्वयं परास्त हुए। उपकोशा से ब्याह होने पर महाराजा

नन्द के मंत्री हुए। महाराज नन्द की मृत्यु के अनन्तर वन में चले गये और काणभूति को कथा सुनाकर शाप से मुक्ति पाई। कुमारलाट के 'सूत्रालंकार' से इनमें से कई बातों का समर्थन होता है।

जिनप्रभसूरि-विरचित 'विविधतीर्थकल्प' में लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर की सम्मति से महाराज विक्रमादित्य की शासन-पट्टिका लिखी गई थी जिसको उज्जयिनी नगरी में संवत् १, चैत्र सुदी २, गुरुवार को "भाटदेशीय महाक्षपटलिक परमार्हत-श्वेतांबरोपासक-ब्राह्मण गौतमसुत कात्यायन ने लिखा था।" जिनप्रभसूरि का सुल्तान मुहम्मद तुगलक के राज्य में बड़ा मान था और कहा जाता है यह शासन-पट्टिका उन्होंने स्वयं देखी थी। यदि वही कात्यायन वररुचि भी कहलाते थे तो ज्योतिर्विदाभरण के इस लेख की पुष्टि होती है कि महाराज विक्रम के नवरत्नों में वररुचि भी थे।

कात्यायन के कोषग्रन्थों में 'नाममाला' का नाम लिया जाता है। पाणिनि के व्याकरण पर कात्यायन की वार्त्तिकाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य में कात्यायन की वार्त्तिका के १२४५ सूत्र सुरक्षित हैं और बहुत-सी कारिकाएँ भी मिलती हैं। पतञ्जलि ने 'वररुचि काव्य' का भी अस्तित्व बतलाया है। कातंत्र व्याकरण का चतुर्थ भाग, प्राकृत-प्रकाश, लिंगानुशासन, पुष्पसूत्र और वररुचि संग्रह भी कात्यायन के बताये जाते हैं। धर्मशास्त्र, श्रौतसूत्र, और यजुर्वेद प्रतिशाख्य भी कात्यायन के बताये जाते हैं। वैबर के अनुसार कात्यायन का समय २५ वर्ष ईसा के पूर्व है। गोल्डस्टकर का द्वितीय शताब्दी के प्रथम भाग में, और मैक्समूलर का चतुर्थ शताब्दी के द्वितीय भाग में अनुमान है।

श्रीमेरुतुंगाचार्य कृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में लिखा है कि वररुचि उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की लड़की 'प्रियंगुमञ्जरी' को पढ़ाते थे। एक बार कन्या ने गुरु के साथ हास्य किया। क्रोध में आकर वररुचि ने शाप दिया कि "तू गुरु का उपहास कर रही है तुझे पशुपाल पति मिले"। कन्या ने कहा कि जो आदमी आपका गुरु होगा उसी से ब्याह करूँगी।

एक दिन वररुचि जंगल में घूमते-घूमते थक गये थे। पानी नहीं मिला। एक पशुपाल से पानी माँगा। पानी नहीं था। उसने कहा भैंस का दूध पी लो और भैंस के नीचे बैठकर "करचण्डी" करने को कहा। वररुचि ने किसी भी कोष में 'करचण्डी' शब्द नहीं पढ़ा था। पूछने पर पशुपाल ने दोनों हथेलियों को जोड़कर 'करचण्डी' नामक मुद्रा बताकर भैंस का दूध पिलाया। एक विशेष शब्द बताने के कारण वररुचि ने इस पशुपाल को अपना गुरु माना। राजप्रासाद में फिर ले आकर राजकन्या का पाणिग्रहण कराया। वह पशुपाल

कालिका जी की आराधना करने लगा और कालिका के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर उसे विद्या प्राप्त हुई और उसका नाम कालिदास हुआ। उसने कुमारसंभव प्रभृति ग्रन्थ लिखे। उक्त जैन ग्रन्थ के अनुसार विक्रम, वररुचि और कालिदास समकालीन थे।

पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारत के इतिहास' में आचार्य वररुचि को विक्रमादित्य का समकालीन होना सिद्ध किया है। उन्होंने प्रमाण भी दिये हैं जिनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

(१) वररुचि ने अपने आर्याछन्दोबद्ध एक ग्रन्थ के अन्त में लिखा है:—

"इति श्रीमदखिलवाग्विलासमण्डितसरस्वतीकण्ठाभरण-अनेकविशरणश्रीनर-पतिसेवितविक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृषचरणारविन्द आचार्य वररुचि विरचितो लिंगविशेषविधिः समाप्तः॥"

अर्थात् आचार्य वररुचि महाप्रतापी विक्रम का पुरोहित था।

(२) आचार्य वररुचि अमरसिंह के पूर्वज अथवा समकालीन थे। अमर लिखता है:—

"समाहृत्यान्यतन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः॥"

इस पर टीकासर्वस्वकार लिखता है:—

व्याडि-वररुचि-प्रभृतीनां तन्त्राणि समाहृत्य॥

(३) वररुचि के अनेक ग्रन्थ अब भी मिलते हैं। 'वाररुचनिरुक्तसमुच्चय' ग्रन्थ स्कन्दस्वामी (सन् ६३०) से बहुत पहले का है।

(४) धोयी अपरनाम श्रुतिधर जो राजा लक्ष्मणसेन का सभा पण्डित (वि० सं० ११७३) था लिखता है:—

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी—
विद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्॥

—सदुक्तिकर्णामृत, पृष्ठ २९७—

(श्रुतिधर ने लक्ष्मणसेन की सभा में वही प्रतिष्ठा प्राप्त की, जो कि विक्रमादित्य की सभा में वररुचि ने की थी।)

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि महाप्रतापी विक्रमादित्य का वररुचि से अवश्य सम्बन्ध था।

(७) धन्वन्तरि

धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास बताये जाते हैं। सम्भव है जब महाराजों पर विजय पाकर विक्रमादित्य महान् हुए हों तब काशीराज उनकी राजधानी उज्जैन में बुलाये जाकर उनकी अन्तरंग सभा के सदस्य

हुए हों। यह भी सम्भव है कि आयुर्वेद के प्रचार करने के हेतु, राजपाट अपने पुत्र को देकर काशीराज दिवोदास वृद्धावस्था में केवल वैद्यक-शिक्षा-प्रसार हेतु उज्जयिनी में बस गये हों।

ज्योतिर्विदाभरण में बताये गये नवरत्नों की कथा कपोल-कल्पना-मात्र है, यह मान लेना ठीक नहीं है। यदि प्रसिद्ध विद्वानों के नामों को एकत्र करके नौ विद्वानों की सभा की कल्पना ही समीचीन थी तो ज्योतिर्विदाभरण का रचनाकार अन्य विद्वान्—पाणिनि, पतञ्जलि, भास और अश्वघोष का भी नाम ले सकते थे। परन्तु वे नाम न लेकर साधारण व्यक्ति घटखर्पर, शंकु, क्षपणक, वेतालभट्ट के नाम नवरत्नों में गिनाए गए हैं, जो अगर कल्पना ही है, तो अवश्य एक निम्न कल्पना का परिचय दिया है। वास्तव में, प्रतीत यह होता है कि ग्रन्थकार ने कल्पना को काम में न लेकर वस्तुस्थिति का सही वर्णन किया है।

सुश्रुत संहिता में धन्वन्तरि, दिवोदास और काशीराज एक ही व्यक्ति के नाम हैं। परन्तु विष्णुपुराण के अनुसार पुरुरवा के वंश में काशीराज के पोते धन्वन्तरि थे और धन्वन्तरि के पोते दिवोदास हुए थे। हरिवंश पुराण में लिखा है कि 'काश्य' के पड़पोते धन्वन्तरि और धन्वन्तरि के पड़पोते दिवोदास थे। सम्भव है यह तीनों ही बड़े भारी वैद्य हुए हों और एक कोई विक्रमादित्य के समकालीन और नवरत्न रहे हों। स्कन्द, गरुड़ और मार्कण्डेय पुराणों में धन्वन्तरि को त्रेतायुग में होना बताया है। धन्वन्तरि की माता का नाम वीरभद्रा था और वह जाति की वैश्य थी। गालव मुनि के प्रभाव से ऋषियों ने कुशों की एक मूर्ति बनाई और वीरभद्रा की गोदी में फेंक दी और वैदिक मंत्रों के बल से उस मूर्ति में जीवन-संचार किया गया। इसलिए वह वैद्य कहलाए। विष्णुपुराण में समुद्र मन्थन की कथा में समुद्र से निकले रत्नों में धन्वन्तरि का आना बताया गया है। इस तरह एक ही पुराण में धन्वन्तरि के विषय में दो कथाएँ हैं।

धन्वन्तरि ने अश्विनीकुमार की तीन कन्याएँ (१) सिद्धविद्या (२) साध्य-विद्या (३) और कष्ट-साध्यविद्या इनको ब्याह लिया। और उनके सेन, दास, गुप्त, दत्त इत्यादि १४ पुत्र हुए। सम्भव है यह कथा केवल विद्या प्राप्ति की कथा ही हो। सुश्रुत के अतिरिक्त इनके १०० शिष्य प्रसिद्ध हैं। 'भारतीय औषधि के इतिहास' में डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी ने धन्वन्तरि प्रणीत दस ग्रन्थ बताये हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्त्व-विज्ञान, दिवोदास ने चिकित्सादर्शन, और काशीराज ने चिकित्सा कौमुदी निर्मित की। इसके

अनन्तर धन्वन्तरि ने (१) अजीर्णामृतमञ्जरी (२) रोगनिदान (३) वैद्य-चिन्तामणि (४) विद्याप्रकाशचिकित्सा (५) धन्वन्तरिनिघंटु (६) वैद्यक-भास्करोदय (७) चिकित्सासारसंग्रह और निर्मित किये। भारतीय आयुर्वेद पद्धति में धन्वन्तरि आदि गुरु हैं।

(८) आचार्य वराहमिहिर

वराहमिहिर का काल ५५० ई० बताया जाता है। उनकी मृत्यु ईसवी सन् ५८७ ई० में बताई जाती है। वराहमिहिर के बृहत् संहिता में दिये गये शकाब्द के हिसाब से विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास और वराहमिहिर साथ-साथ नहीं हो सकते थे।

वराहमिहिर ने अपना जन्म-संवत् कहीं नहीं लिखा। अपना जन्म-स्थान और वंश-परिचय अवश्य दिया है। बृहज्जातक के उपसंहार में उन्होंने लिखा है कि अवन्ती के पास कपित्थ नाम के ग्राम में आदित्यदास के घर में उन्होंने जन्म लिया। कपित्थ (वर्तमान कायथा) उज्जैन से ११-१२ मील पर उज्जैन-मक्सी-रोड पर है और रियासत इन्दौर के अन्तर्गत था। श्लोक यह है :—

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः कापित्थके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग् होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥

शंकर बालकृष्ण दीक्षित के "भारतीय ज्योतिष शास्त्राचा इतिहास" के अनुसार वराहमिहिर ने बृहत्-संहिता शक सं० ४२७ में लिखी है। श्री० एस० नारायण एय्यंगर ने स्वर्गीय प्रोफेसर सूर्यनारायण राव के मत का खण्डन करते हुए लिखा था कि ४२७ शालिवाहन शक न होकर विक्रम संवत् है। एक के मत के अनुसार वराहमिहिर विक्रम संवत् ४२७ में व दूसरे के मत के अनुसार विक्रम संवत् ५६२ में हुए थे। हमारी राय में यह भी सम्भव है कि जो वर्ष वराहमिहिर ने लिखे हैं वह विक्रम या शालिवाहन के न होकर कोई दूसरे ही संवत् के हों। इसलिए जब तक बृहत्-संहिता के रचनाकाल के विषय में दूसरा प्रमाण न मिले, तब तक, कोई निश्चित सम्मति प्रकट करना उचित नहीं होगा। यवनराज स्फुजिध्वज ने एक पुरातन शकाब्द का उल्लेख किया था।

'ज्योतिर्विदाभरण' को श्रीयुत् दीक्षित जी ने इसलिए जाली बताया है कि उसमें अयनांश निकालने की विधि दी गई है और वह भी वराहमिहिर के अनुसार। परन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि ग्रन्थ कालिदास ने ही लिखा हो परन्तु ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में समय-समय पर क्षेपक बढ़ते चले गये हों। जब तक 'ज्योतिर्विदाभरण' की मूल प्रति न मिले तब तक ग्रन्थ के विषय में और

उसके अनुसार 'विक्रम के नवरत्नों' के विषय में यह कहना कठिन है कि यह कपोल कल्पना है।

वैज्ञानिकों में वराहमिहिर और आर्यभट्ट सरीखे प्रखर विद्वानों ने प्राचीन काल में भारत के नाम को उज्ज्वल किया है। वराहमिहिर के पिता आदित्यदास भी बहुत बड़े गणितज्ञ और ज्योतिषी थे और वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस भी विद्वान् हुए हैं। पृथुयशस की 'षट्पञ्चाशिका' की टीका भी वराहमिहिर के टीकाकार भट्टोत्पल ही ने की है। वराहमिहिर की बृहत्-संहिता, समास-संहिता, बृहज्जातक, लघुजातक, पंचसिद्धान्तिका, विवाहपटल, योगयात्रा, बृहत्यात्रा और लघुयात्रा प्रसिद्ध हैं।

पंचसिद्धान्तिका के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों की टीका दिग्गज विद्वान् भट्टोत्पल ने की है। पंचसिद्धान्तिका में वराहमिहिर ने लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आर्यभट्ट, प्रद्युम्न और विजयनन्दी के मतों को उद्धृत किया है जो उनके पूर्ववर्ती विद्वान् थे और जिनके नाम आज वराह के कारण ही सुरक्षित हैं। पैतामह, गार्ग, ब्रह्म, सूर्य, और पौलिश सिद्धान्तों को भी वराहमिहिर ने ही सुरक्षित रखा है। वराह-मिहिर की विद्या और उनका अगाध ज्ञान देखकर यह विचार होता है कि अवश्य ही उन्होंने देश-पर्यटन के साथ विदेशगमन भी किया था। यूनानी ज्योतिषियों के प्रति वराहमिहिर के बड़े सम्मान और आदर के भाव हैं ऐसा बृहत् संहिता में इस श्लोक को वराहमिहिर के उद्धृत करने से पता चलता है:—

म्लेच्छाः हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥

यवन (Ionians or Greeks) वास्तव में म्लेच्छ हैं परन्तु शास्त्र में पारंगत होने से वे ऋषियों के समान पूजित हैं फिर शास्त्रपारंगत द्विज तो देवता सरीखा पूजा का पात्र है।

डाक्टर ए० बैरीडेल कीथ ने लिखा है कि वराहमिहिर कोरे गणितज्ञ, ज्योतिषी या वैज्ञानिक ही हों यह बात नहीं है; उनकी भाषा इतनी प्राञ्जल और कविता इतनी रसिकता और माधुर्य लिये हुए है कि बड़े-बड़े कवियों की उपस्थिति में उनका स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ सप्तर्षियों की स्थिति पर वराहमिहिर की बृहत्-संहिता का निम्नांश हम यहाँ उद्धृत करते हैं जिससे पता चलेगा कि साहित्य और विज्ञान का कितना सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है। बृहत्-संहिता में लिखा है:—

"जिस प्रकार रूपवती रमणी गूँथे हुए मोतियों की माला और सुन्दर रीति से पिरोए हुए श्वेत कमलों के हार से अलंकृत होती है उसी प्रकार उत्तर प्रदेश इन तारकों से अलंकृत है। इस प्रकार अलंकृत, वे कुमारियों के सदृश हैं

जो ध्रुव के पास उसी प्रकार नाचती और घूमती हैं जिस प्रकार ध्रुव उनको आज्ञा देता है। मैं प्राचीन और सनातन गर्ग के प्रमाण से कहता हूँ कि जब पृथ्वी पर युधिष्ठिर का राज्य था तो सप्तर्षि दसवें नक्षत्र मघा में थे और शककाल इसके २५२६ वर्ष उपरान्त है। सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र में ६०० वर्ष रहते हैं और उत्तर पूर्व में उदय होते हैं। सात ऋषियों में से जो उस समय पूर्व का शासन करता है वह मरीचि है। उसके पश्चिम में वशिष्ठ है। फिर अंगिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ के समीप सती अरुन्धती है।"

यह दिखलाने के लिए कि आर्य ज्योतिषी बहुत पहले से पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति (Law of Gravitation) मानते थे, अलबेरूनी ने 'बृहत्-संहिता' को उद्धृत किया है।

वराहमिहिर का भूगोल, खगोल, इन्द्रायुध, भूकम्प, उल्कापात, वायुधारण, दिग्दाह प्रवर्षण, रोहिणी योग, ऋतुपरिवर्तन, वर्ष में धान्य और धान्य के मूल्य में घटाबढ़ी का ज्ञान अत्यन्त अगाध तो था ही और ज्योतिष गणित और फलित के वे पूर्ण पंडित भी थे। परन्तु अन्य विषयों का ज्ञान भी उनको बहुत था।

हीरा, पद्मराग, मोती और मरकत का बड़ा विशद वर्णन उन्होंने अपने रत्न-परीक्षा नामक अध्याय में दिया है। हीरा के क्रय-विक्रय के नियम आजकल Indian or Tavernier's Rule or Rule of Square के नाम से प्रसिद्ध है। शुक्रनीति में बहुत पहले लिखा गया था कि—**"यथा गुरुतरं वज्रं तन्मूल्यं रत्तिवर्गतः"**। अर्थात् अगर एक वज्र (हीरा) वजन में १ रत्ती है और उसका मूल्य 'क' है तो ४ रत्तीवाले हीरा का मूल्य '२ क' होगा।

गणितज्ञ होने के कारण वराहमिहिर ने इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। उनके समय में ८ सफेद तिल का १ तन्दुल और ४ तन्दुल का १ गुंजा माना जाता था। वे कहते हैं कि "अगर २० तन्दुल भारी हीरा का मूल्य २ लाख रुपया होता है तो ५ तन्दुल वजनी हीरा ५०,००० रुपये का नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ वर्ग-नियम लागू होगा और ५ तन्दुलवाले हीरा का मूल्य २ लाख का (२५×४) या १००वाँ हिस्सा=२००० रुपया ही होगा।"

इसी प्रकार मरकत, मोती और पद्मराग के मूल्य निर्धारित करने के नियम एवं उनके अच्छे चिह्न पहचानने के नियम दिये गये हैं। आजकल पीले हीरे भारत में नहीं होते और दक्षिणी अफ्रीका से ही आते हैं; परन्तु वराहमिहिर के समय में पीत हीरे भी यहीं पाये जाते थे। लाल, पीले, श्वेत और रंगहीन हीरों का वर्णन किया गया है—**"रक्तं, पीतं, सितं, शैरीषं"**। इसके अनन्तर वृक्षायुर्वेद में वृक्षों के रोगों और औषधियों का वर्णन है। पशुओं में गौ, अश्व, हाथी, कुक्कुट, कूर्म, छाग इत्यादि के लक्षण बताये हैं। कामसूत्र का भी सूक्ष्म विवरण

है। वास्तुविद्या, प्रासाद-लक्षण, प्रतिमा-लक्षण और प्रतिमा-प्रतिष्ठापन पर अलग क्रियात्मक परिच्छेद हैं।

कई दवाइयाँ वज्रलेप के लिए बताई हैं जिसके लगाने से एक पत्थर दूसरे पत्थर से सहस्रों वर्षों को चिपक सकता है। इन लेपों का बौद्धकालीन मन्दिर और चैत्यों में पर्याप्त उपयोग किया जाता था और इसी लिए वे मन्दिर भली भाँति सुरक्षित हैं।

एक अध्याय शस्त्रपान पर है जिसमें यह बताया है कि हथियारों की धार पर शान किस तरह रखनी चाहिए जिससे थोड़े प्रयत्न से धार अत्यन्त तेज हो सके। एक अन्य अध्याय 'शिलादारण' पर है। चट्टानों को तोड़ने के लिए आजकल बारूद की आवश्यकता होती है परन्तु उस काल में कई औषधियों का क्वाथ बनाया जाता था जो कई चूर्णों के साथ चट्टानों पर छिड़का जाता था जिसके कारण चट्टान इतना गलने लगता है कि वह काटे जाने योग्य हो जाता है। बृहत्-संहिता का ७६वाँ अध्याय गंधी और अत्तारों के कार्य से सम्बन्धित है। बकुल, उत्पल, चम्पक, प्रतिमुक्तक के गन्ध किस प्रकार बनाने चाहिए और किस अनुपात से क्या क्या वस्तु डालनी चाहिए इसका विशद विवेचन है। लोष्ठक प्रस्तार (Mathematical calculus) से सहस्रों प्रकार की सुगन्धियाँ बनाने की पूरी विधि लिखी गई है। यही कारण है कि उज्जयिनी की बनी सुगंधित वस्तुएँ, गन्ध, धूप एवं अनुलेपन की सामग्रियाँ बरोच होकर अलैकजैंड्रिया होती हुई उन दिनों ग्रीस और यूरोप पहुँचकर अत्यन्त प्रसिद्धि पा रही थीं। क्रियात्मक रसायन (Applied chemistry) और देश की व्यापारिक अवस्था को सुधारने की इच्छा से लिखे हुए इस अध्याय का प्राचीन भारत के इतिहास में कम महत्त्व नहीं है।

प्रकाश के मूर्च्छन एवं किरणविघट्टन (Reflection of light) का भी अच्छा विवरण बृहत्-संहिता में मिलता है। आजकल 'एटम' (atom) और एलक्ट्रन (electron) परमाणु देखने में सबसे छोटी वस्तु (the minimum visible) मानी जाती है। वराहमिहिर के शिल्पशास्त्र में परमाणु तिरछी सूर्यकिरण की मोटाई को बताया गया है। परमाणु का हिसाब वराहमिहिर ने इस प्रकार बतलाया है:—

८ परमाणु = १ रजस। ८ रजस = १ बालाग्र (बाल) ८ बालाग्र = १ लिक्ष। ८ लिक्ष = १ यूक। ८ यूक = १ यव। ८ यव = १ अंगुली। २४ अंगुली = १ हस्त।

आचार्य सर ब्रजेन्द्रनाथ सील ने लिखा है कि इस तरह पाँचवीं शताब्दी में ही जब ग्रीक गणित और विज्ञान अति साधारण था—एक हिन्दू वराहमिहिर

ने एक तिरछी पतली सूर्यकिरण की मोटाई की कल्पना कर ली थी। वराहमिहिर का उन दिनों का एक परमाणु वर्तमान इंच का ३।। लाखवाँ हिस्सा है।

वास्तव में आचार्य वराहमिहिर विद्वान्, साहित्यिक कवि, वैज्ञानिक, ज्योतिषी एवं व्यापारिक रसायनज्ञ ही नहीं थे, वे उन महापुरुषों में थे जिनका नाम प्राचीन-भारत के निर्माताओं में सदा ही प्रमुख बना रहेगा। कोई भी राजा उनको अपने नवरत्नों में स्थान देकर राज्य को गौरवान्वित करने का प्रयत्न करता।

(९) कविसम्राट् कालिदास

संस्कृत काव्य के उज्ज्वलतम रत्न और संसार-साहित्य के सिरमौर कवि-कुल-गुरु कालिदास 'ज्योतिर्विदाभरण' के एक श्लोक के आधार पर उज्जयिनी के सम्राट् विक्रमादित्य के समकालीन और उनकी सभा के नवरत्नों में से एक माने जाते हैं। इनको अलौकिक प्रतिभा और कवित्वशक्ति ने भारत-वर्ष को, पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में संस्कृति, कला और साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान दिलाया है। यूरोपीय महान् कवि गेटे (Goethe) तो अभिज्ञान-शाकुन्तल को ही विश्व-साहित्य की सबसे बड़ी कृति समझकर कह उठा था :—

"प्रारंभिक वसन्त की नूतन कलिकाओं और उसके अन्तिम दिनों के फलों को—क्या तू एक ही शब्द-द्वारा दोनों को अभिहित करना चाहता है? क्या तू उन सारे पदार्थों को भी एक ही शब्द से अभिहित करना चाहता है जो आत्मा को मोहित और मन्त्र-मुग्ध करके संतुष्ट और संतृप्त करते हैं? क्या तुझे भूलोक और स्वर्गलोक दोनों के लिए एक ही नाम चाहिए? तो देख! मैं उसी नाम को लेता हूँ—वह नाम "शकुन्तला" है। 'शकुन्तला' का नाम लेकर अधिक कहना बेकार है।"

इस जर्मन-कवि गेटे की प्रसिद्ध रचना "फाऊस्ट" (Faust) का तत्कालीन जर्मन, फ्रेंच और अँगरेज कवियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। हाल में 'फाऊस्ट' की असली पांडु-लिपि मिली है; जो गेटे के जन्म-स्थान फ्रेंकफर्त (Frank Fort) में सुरक्षित है। इससे पता चला कि 'फाऊस्ट' का द्वितीय भाग पहिले कुछ और ही लिखा गया था। परन्तु 'शकुंतला' के अध्ययन के अनन्तर गेटे ने बदलकर वह भाग लिखा जो अब असली समझा जाता है। पाश्चात्य साहित्य कालिदास का कितना ऋणी है; इसी बात से पता चल सकता है।

इस शकुंतला-नाटक के अनेक पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। सर विलियम जोन्स ने पहिला पहिल अनुवाद अँगरेजी भाषा में किया था और कालिदास को "भारतीय शेक्सपियर" बतलाया था। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हम्बोल्ट

(Alexander von Humboldt) ने और भी सच्ची बात लिखकर यूरोपीय विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। उसने लिखा था—

"प्रकृति-द्वारा प्रभावित प्रेमी लोगों के चित्त पर जो भाव अंकित होते रहते हैं; उन भावों को व्यक्त करने में शकुंतला के प्रसिद्ध रचयिता कालिदास बड़े ही सिद्धहस्त हैं। भाव व्यक्त करने में जो मृदुलता उन्होंने दिखलाई है और रचनात्मक कल्पना की जो बहुलता का परिचय उनमें मिला है, उससे संसार के कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा हो गया है :—

(Kalidasa the celebrated author of Sokuntala, is a masterly describer of the influence which Nature exercises on the minds of lovers. Tenderness in the expression of feeling and richness of creative fancy have assigned to him his lofty place among the poets of all Nations)

विद्वानों ने शकुन्तला नाटक के अन्दर कालिदास की जीवनी खोजने का भी प्रयत्न किया है। निम्नलिखित श्लोक शकुन्तला के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध ह।

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यंशकुन्तलम्।
तत्रापि च चतुर्थोऽकंस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

काव्य में नाटक रमणीय है; नाटकों में शकुन्तला, शकुन्तला में चतुर्थ अंक और चतुर्थ अंक में चतुर्थ श्लोक रमणीय है।—

यह चतुर्थ श्लोक, शकुन्तला की बिदा के समय, वृद्ध एवं ऋषि के हृदय के उद्गार हैं।

कण्व कहते हैं कि "हृदय विरह-वेदना से भर गया है। कंठ रोके हुए आँसुओं से गद्गद है। चिन्ता के कारण आँखें धुँधली हैं। मेरे जैसे जंगल में रहनेवाले की यदि ऐसी विकलता है तो बेटी के पहले वियोग पर गृहस्थों की क्या दशा होती होगी ?"

जिसने स्वयं कन्या की विदाई का अनुभव नहीं किया वह ऐसे भाव व्यक्त नहीं कर सकता था। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कालिदास को भी ऐसा ही अनुभव हुआ होगा।

शकुंतला नाटक में कण्व के आश्रम का; विक्रमोर्वशीय में च्यवन के आश्रम का, और रघुवंश में वशिष्ठ के आश्रम का ऐसा स्वाभाविक वर्णन है कि प्रतीत यह होता है मानों कालिदास ने स्वयं किसी ऐसे ही आश्रम में रहकर प्रथम आयु बिताई थी। हमें यह भी ज्ञात है कि उज्जयिनी महर्षि सांदीपन के काल से

शिक्षा का केन्द्र रहा था; और जब राजशेखर से यह पता चलता है कि काव्यंकार परीक्षा उज्जयिनी में हुआ करती थी; और कालिदास भी वहीं उसी परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे, तो हमें यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि, हो न हो, इन आश्रमों का वर्णन, वास्तव में उज्जैन के पास के आश्रम का ही सच्चा वर्णन कवि ने किया है जिसमें रहकर उन्होंने प्राथमिक शिक्षा पाई थी।

वास्तव में कालिदास के काव्य में अलौकिक प्रतिभा के साथ-साथ प्रसाद-गुण, वैदर्भी रीति और मागधी प्राकृति के साथ नाना शास्त्रों के ज्ञान का भी जब दिग्दर्शन होता है; तो यह निष्कर्ष तो निकालना ही पड़ता है कि प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार उनकी शिक्षा विधिवत् किसी विद्वान् वेदनिष्ठ गुरु के आश्रम में ही हुई थी।

उनकी उपमाएँ इतनी प्रसिद्ध हैं और उनके कहने का ढंग इतना सादा है कि अधिक से अधिक गंभीर भाव वह सादी से सादी भाषा में व्यक्त कर देते हैं। जहाँ 'माघ' कवि के काव्यग्रन्थ पढ़ने के लिए अनेकानेक बहुमूल्य कोषों से भी पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं होता; वहाँ कालिदास के ग्रंथ केवल एक अमर-कोष से ही समझे जा सकते हैं। वह बड़ी सुगमता से कह देते हैं कि "कुश से कुमुदवती के अतिथि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ; जैसे रात्रि के पिछले भाग में बुद्धि विशेष निर्मल होकर जाग्रत होती है।" "अगस्त तारे के पास सूर्य आ जाने के कारण हिमालय पर हिम ऐसे गलने लगी मानों आनंद-शीत के अश्रु हों।"

शकुंतला को अनसूया और प्रियम्वदा के बीच में दुष्यंत ने ऐसा बताया था 'मानों दो विशाखा नक्षत्रों के बीच में चंद्रकला हो।' इससे उनके खगोल के भी सूक्ष्म-निरीक्षण का पता चलता है। यह ज्योतिष-ज्ञान तब उनमें और भी अधिक प्रतीत होता है जब दुष्यंत शकुंतला से कहते हैं कि—'ग्रहण के बाद चंद्रमा का रोहिणी-मिलन-योग आया है।'—और जब रघुवंश में सीता वनवास के अवसर पर भगवान् राम के मुख से यह कहलवाया जाता है कि—

"मेरी सम्मति में तो सीता निर्दोष है, परन्तु मेरे मत से भी अधिक 'लोकमत' है। क्योंकि वास्तव में चन्द्रमा के काले चिह्न पृथ्वी के प्रतिबिंब मात्र हैं, परन्तु फिर भी लोग तो उन्हें निर्मल चन्द्र के कलंक-चिह्न ही कहते हैं"—तो उनके ग्रहण के सिद्धांतों के विषयक ज्योतिष का अपूर्व ज्ञान देखकर दंग रह जाना पड़ता है।

कुमार-संभव में ब्रह्मा जब देवताओं से कहते हैं कि तुम लोग हमेशा जीतते रहे हो इस समय ही हार गये हो; अतः यह हार साधारण नियम का अपवाद ही है, तो हमें तर्क के प्रसिद्ध सिद्धांत Exceptions prove the rule (अपवादों से ही नियम सिद्ध होते हैं) का सहसा आभास मिल जाता है।

रघुवंश के प्रारम्भिक मंगलाचरण में ही शिव-पार्वती की प्रार्थना अत्यन्त साधारण रूप में निम्नलिखित है :—

"शब्द और अर्थ के शुद्ध ज्ञान के लिए शब्द और अर्थ के तुल्य नित्य सम्बन्ध-वाले जगत् के पितर पार्वती और परमेश्वर (शिव) की वन्दना करता हूँ।" परन्तु इसी 'शब्द-अर्थ' के मिलान में, काव्य और साहित्य की परिभाषा भी अत्यन्त सुगमता से बता दी गई है और हमें पता भी नहीं चलने पाता कि कवि ने कितने महत्त्व की बात बतला दी।

प्रत्येक शास्त्र का अपरिमित ज्ञान बिना किसी विधिवत् अध्ययन के प्राप्त नहीं हो सकता था; और इसीलिए राजशेखर का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि उज्जयिनी में रहकर ही कालिदास ने काव्य-शास्त्र में विधिवत् परीक्षा उत्तीर्ण की थी।

अभिज्ञानशाकुन्तल में जब दुष्यन्त हिरण का पीछा करते हुए जाते-जाते यह कह उठते हैं कि "यह हिरण गर्दन मोड़-मोड़कर बार-बार रथ की तरफ देखता हुआ भाग रहा है और जब बारम्बार गर्दन मोड़कर देखता है तब बड़ा ही सुन्दर मालूम होता है। तीर लगने के डर से पिछले आधे शरीर को और अगले शरीर को अगले भाग से सिकोड़कर मिलाता हुआ—थकावट के कारण खुले हुए मुँह से आधे चबाये हुए दाभ को राह में बिखेरता हुआ लम्बी-लम्बी छलाँग मारते हुए आकाश में उड़ता हुआ ही मालूम होता है—भूमि पर पैर भी नहीं रखता"—तब भी ऐसा ज्ञात होता है कि स्वयं कालिदास ही किसी राजा के साथ मृगया में भी रहे होंगे और वहीं उन्होंने हिरन की गर्दन की मोड़ और छलाँगों का सूक्ष्म निरीक्षण भी किया होगा। अन्यथा इतनी बारीक सूझ किसी भी कवि की नहीं हो सकती थी।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में उनके राज-दरबार के रंग-ढंग से पूर्णतः परिचित होने का भी भली भाँति आभास मिलता है। उनके राज्य के राज-नियम, दण्ड-नियम, व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ज्ञान का भी अच्छा परिचय प्राप्त होता है। वह बड़ी सुगमता से यह भी बता देते हैं कि धान्य का ⅙ छठा भाग राजा को 'कर' के रूप में दिया जाता है। जब दुष्यन्त यह कहने लगते हैं कि "पवन के सम्मुख नीयमान ध्वजदण्ड के समान, शरीर आगे जाता है और चीन-देशीय रेशम के समान चंचल चित्त पीछे दौड़ता है" तो काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ चीन का व्यापार भी हमारी आँखों के सामने आ जाता है।—और जब एक सिपाही मछुए से यह कहता है कि दुष्यन्त की अँगूठी तेरे पास मिली है; इस-लिए चोरी में तुझे मृत्युदण्ड मिलेगा; तो उस समय के राज्य-नियम का भी परिचय प्राप्त हो जाता है। विद्वद्वर पं० नन्दर्गीकर ने रघुवंश की भूमिका में

लिखा है कि स्मृतियों में मनु, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ, गौतम और नारद ने 'चोरी' में मृत्युदण्ड ही निर्धारित किया था; और बृहस्पति, याज्ञवल्क्य और व्यास जुरमाना या मृत्युदण्ड—दो में से एक—दण्ड पर्याप्त समझते हैं। इसलिए कालिदास का काल पिछली तीन स्मृतियों के पूर्व होना सुगमता से कहा जा सकता है।

दुष्यन्त को जब प्रधान-मंत्री लिखकर भेजते हैं कि समुद्री व्यापार करनेवाला धनमित्र नामक बनियों का मुखिया जहाज डूबने से मर गया और बेचारा संतानहीन था; इसलिए राजा को धनसमूह पाना चाहिए, तो राजा की यह आज्ञा कि उसकी स्त्रियों में कोई गर्भिणी है या नहीं? और है तो गर्भस्थ-बालक ही पैतृक-सम्पत्ति का अधिकारी है—एक ओर तो वे पैतृक-सम्पत्ति के उत्तराधिकार के राज्य-नियम की जानकारी सूचित करते हैं और दूसरी ओर हमारा ध्यान तत्कालीन भारत के अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र मार्ग के व्यापार की ओर भी आकृष्ट करते हैं।

विद्वानों का मत है कि ऐसा राज्य-नियम कात्यायन, गौतम, बृहस्पति, शंख, लिखित, याज्ञवल्क्य और व्यासस्मृति के पूर्व का होगा और मनु, बौधायन और आपस्तंब के बाद का है। वसिष्ठ-स्मृति में यही नियम निर्धारित किया गया था। प्रोफेसर जुलियस जौली (Prof. Julius Jolly) के अनुसार वसिष्ठ-स्मृति का काल प्रथम शताब्दी ईसवी है; जो विक्रम-काल के भी समीप रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक लिखते समय इतनी अच्छी तरह राज्य-नियम, उसी कवि या नाटककार की स्मृति में रह सकते हैं जो राजा के साथ या राज-दरबार में रहा हो या जो स्वयं इन नियमों के सम्बन्ध में किसी अधिकारी के पद पर रहा हो।

शकुन्तला के छठे अंक को पढ़ने पर एक और भी मनन-योग्य बात दिखाई पड़ती है। वह यह कि राजा का साला कोतवाल है और दो सिपाहियों के साथ राजा दुष्यन्त के दरबार में मछुए को पकड़कर लाता है। राजा उल्टा धीवर को पारितोषिक देता है। कोतवाल, सूचक, और जानुक तीनों को धीवर आधा भाग दे देता है और वह तीनों मदिरापान करते हैं।

महाकवि भास के 'चारुदत्त' नाटक और शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में राजा के साले और पुलिस के सिपाहियों के चरित्र और भी हास्यात्मक और निंदित चित्रित किये गये हैं। कालिदास ने भास को अपना पूर्ववर्ती माना है; और यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कोतवाल और सिपाहियों का यह चित्र 'चारुदत्त' और "मृच्छकटिक" चित्रों की छायामात्र है। जब कालिदास यह अंक लिख रहे थे तब उज्जयिनी के राजा के उसी साले और सिपाहियों के चित्र उनकी दृष्टि

में थे जिनकी हँसी भास और शूद्रक ने उड़ाई है। वास्तव में, शकुन्तला के छठवें अंक में उज्जयिनी का प्रभाव प्रत्यक्ष है।

कालिदास-सम्बन्धी किंवदन्तियाँ

अब कवि-सम्राट् की जीवन-संबंधी जो कथाएँ और किंवदन्तियाँ हैं उन पर भी एक सरसरी दृष्टि डालनी उचित होगी—

(१) कालिदास को प्रथमावस्था में अत्यन्त मूर्ख बताया जाता है। एक वृक्ष की शाखा पर खड़े हुए यह उसी को काट रहे थे; यह देख पंडित-मंडली एक राजकुमारी विद्योत्तमा के स्वयंवर में इनको ले गई। शास्त्रार्थ में इनको मौन-व्रत धारण करवाकर किसी न किसी प्रकार ब्याह करा दिया। विद्योत्तमा को यह बात मालूम होते ही इनको घर से निकाल दिया। लज्जित होकर यह काली की उपासना करने लगे। अपनी जीभ तक काटने को जब उद्यत हुए; तो काली ने प्रसन्न होकर वाक्-शक्ति प्रदान की। घर लौटने पर स्त्री ने पूछा कि यह वाक्-शक्ति कहाँ से मिली ? "अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः"। इस वाक्य के प्रत्येक शब्द से प्रारंभ होनेवाले क्रम से इन्होंने कुमारसंभव, मेघदूत और रघुवंश तीन काव्य रचे। यह सब उज्जयिनी में ही होना बताया जाता है।

(२) यह किंवदंती पहले इतनी ही थी; परंतु अब आगे यह और बताया जाने लगा है कि अपनी स्त्री से एक दिन कालिदास ने यह और कह दिया कि तेरे कारण ही मुझे विद्या प्राप्त हुई है; इसलिए तू मेरी माता है। इस पर क्रोधित होकर उसने श्राप दिया कि अन्य किसी स्त्री के द्वारा ही तुम्हारी हत्या होगी; क्योंकि तुमने अपनी स्त्री को माता बना लिया है।

कालान्तर में कालिदास लंका गये और वहाँ के राजा कुमारदास के अतिथि रहे। यह राजा स्वयं कवि थे और कवियों का सत्कार करते थे। इन राजा की प्रेयसी अच्छी कवियित्री थी। उसके घर राजा का आना-जाना था। राजा ने एक दिन उसके घर की एक दीवाल पर एक पंक्ति यह लिख दी कि "कमल पर कमल पैदा होता है ऐसा सुना है; देखा नहीं"—

"कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते"

और उसी के नीचे पाद-पूर्ति के लिए एक बड़े पारितोषक का वचन देना भी लिख दिया। संयोग से इसी वेश्या की कविता पर मुग्ध होकर कालिदास भी वहीं गये और इस तरह श्लोक पूरा कर दिया—

"बाले तव मुखाम्बोजे दृष्टमिन्दीवरद्वयम्"

(हे बाले तुम्हारे मुख-कमल पर ही दो नीली कमलिनी दिखाई दे रही हैं)

पारितोषिक प्राप्त करने के आर्थिक-लोभ में आकर उस वेश्या ने कालिदास को मार डाला और भूमि के नीचे गाड़ दिया। राजा ने जब समस्या-पूर्ति देखी तो

समझ गया कि यह किसी महाकवि की रचना है। दण्डित करने की राजा की धमकी से डर कर वेश्या ने जब कालिदास की हत्या सुनाई तो राजा शोक से व्याकुल हो गया। कालिदास की चिता जब चल रही थी तब राजा भी उस चिता पर ही कालिदास के साथ भस्म हो गया। राजा के अनन्तर उसकी पाँच रानी भी सती हो गईं। राजाकुमारदास का जानकी-हरण रघुवंश के ही सदृश महाकाव्य है। सिंहाली भाषा के जानकी-हरण में प्रिन्सीपल धर्माविराम स्थविर ने यही कथा उद्धृत की है। अन्य सिंहाली ग्रंथों में भी यही कथा मिलती है। राजाकुमारदास की मृत्यु सन् ५१९ के लगभग बताई जाती है।

(३) जैन-ग्रंथों में विक्रमादित्य की कन्या प्रियंगुमंजरी को कालिदास की पत्नी बताया गया है। इसकी कथा वररुचि के संबंध में हम पहले लिख चुके हैं।

(४) डाक्टर भाऊ दाजी ने कालिदास को सारस्वत ब्राह्मण और उनकी स्त्री का नाम कमला बतलाया है। परंतु अपने समर्थन में प्रमाणों को उद्धृत नहीं किया।

(५) कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है कि उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने अपने मित्र मातृगुप्त को काश्मीर का राज्य दे दिया था। राजा हिरण्य का देहान्त हो गया था और उसका भतीजा प्रवरसेन द्वितीय तीर्थों में चला गया था। चार साल बाद जब प्रवरसेन आया तो मातृगुप्त गद्दी से हटकर वाराणसी को यति बनकर चला गया।

डॉक्टर भाऊ दाजी का कहना है कि मातृगुप्त और कालिदास एक ही थे क्योंकि दोनों के शब्दार्थ एक ही हैं। परन्तु ऐतिहासिकों को यह मत ग्राह्य नहीं है। उनका कहना है कि कल्हण इतना अज्ञान नहीं था जो महाकवि कालिदास का नाम न लिखता।

(६) राजा प्रवरसेन के कहने से कालिदास ने 'सेतुकाव्य' की रचना की थी। ऐसा बताया जाता है। बाण-कवि ने इस 'सेतु-काव्य' को कालिदास की श्रेष्ठ रचना बताते हुए लिखा है कि—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

मधु से भींगी हुई मंजरी सदृश कालिदास की मीठी सूक्ति से कौन न आनंद-विभोर हो जायगा ?

परन्तु इतिहास के विद्वान् इस कालिदास को महाकवि कालिदास मानने को तैयार नहीं हैं। मातृगुप्त का छठवीं शताब्दी के मध्य में होना बताया जाता है। भोजप्रबन्ध की किंवदंतियाँ बिलकुल ही असत्य हैं।

ऐसी और भी कई किंवदंतियाँ हैं और इन सबको विद्वान् लोग, प्रमाणों के अभाव में सत्य नहीं मान रहे हैं। परन्तु सभी किंवदंतियाँ कालिदास का उज्जयिनी से ही सम्बन्ध रखती हैं। इससे लोक-मत भली भाँति मालूम किया जा सकता है। अनश्रुति एवं जनश्रुति सदा से ही ऐसी रही है।

परन्तु कालिदास ने अपने जन्म या काल, या आश्रय-दाता राजा, या स्थान के सम्बन्ध में कहीं कुछ भी नहीं बताया है। किसी विश्व के महान् कवि ने क्या कभी भी ऐसा बताया है? क्या विश्व के महान् कवियों को अपनी ओर देखने तक का भी समय मिला करता है?

८—राजा वाक्पतिराज मुञ्ज

नवीं शताब्दी में मालवा पर परमारवंशीय राजाओं का अधिकार हुआ। यह अग्निवंशीय कहलाते हैं। इनकी राजधानी उज्जयिनी ही थी। परन्तु धार को भी उच्चस्थान मिलता रहा और नवें राजा भोजदेव के समय में परमार राजाओं की राजधानी उज्जैन से धार चली गई। परमार राजाओं का वंशवृक्ष इस प्रकार बताया जाता है :—

(१) उपेन्द्रराज अथवा कृष्णराज
(२) बैरीसिंह प्रथम
(३) सीयक प्रथम
(४) वाक्पतिराज प्रथम (८७५-९१४ ईसवी)
(५) बैरीसिंह द्वितीय (९१४-९४१ ई०)
(६) सीयक द्वितीय (९४१-९७३ ई०)
(७) वाक्पतिराज मुंज (९७३-९८७ ई०)
(८) सिन्धुराज (सिंधुल) (९८७-१०१० ई०)
(९) राजा भोजदेव (१०१५-१०५५ ई०)

सातवें, आठवें व ९वें राजा अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्य-प्रेमी हुए हैं और उन्होंने नामी विद्वानों, पंडितों एवं कवियों को आश्रय दिया था।

उदयपुर प्रशस्ति में परमारवंशीय राजाओं का वर्णन मिलता है। सातवें राजा वाक्पतिराज मुंज का वर्णन करते हुए लिखा है कि १६ बार इन्होंने चालुक्यवंशीय राजा तैलवदेव पर आक्रमण किया था। १६वीं बार युद्ध वर्धा नदी पर हुआ। राजा वाक्पतिराज मुंज ने इस युद्ध में तैलवदेव को पकड़ लिया और कैद करके उज्जयिनी ले आये। उदारता में आकर उज्जयिनी में उसको मुक्त कर दिया। तैलवदेव अपमान को नहीं भूला। मुक्त होने के कुछ दिन बाद उसने फिर युद्ध प्रारम्भ किया। राजा वाक्पतिराज ने अपने मंत्री रुद्रादित्य की राय न मानते हुए अपनी सेना को गोदावरी पार उतार दिया। युद्ध में राजा मुंज का पराभव हुआ। तैलवदेव इनको पकड़कर अपनी राजधानी ले आया और वहाँ प्रथम तो अपनी बहन मृणालवती का शिक्षक बनाया परन्तु बाद में यह पता चलने पर कि मंत्री रुद्रादित्य राजा मुंज को कैद से भगाने के प्रयत्न कर रहा है मुंजदेव का शिर कटवा दिया गया !

मुंजराज जिस प्रकार के शूर व युद्ध-कला में निपुण थे उसी प्रकार संस्कृत-पंडित, कवि तथा ग्रन्थकार थे। उनके यहाँ बहुत से संस्कृत कवि व पंडित

आश्रय पाते थे इस कारण से विद्वज्जन उन्हें कविमित्र और कवि-बांधव कहते थे।

धारा नगरी में नैसर्गिक सौंदर्य होने से वहाँ भी वह महल बनवाकर रहने लगे थे। कई स्थानों में मुंजराज ने घाट, ताल, मन्दिर और धर्मशालाएँ बनवाईं थीं। उज्जयिनी में पिशाचमोचन घाट उन्हीं का बनाया हुआ है। नर्मदा के किनारे, ॐकारेश्वर एवं महेश्वर में भी उनके मन्दिर, ताल इत्यादि वर्तमान हैं।

उज्जयिनी के महत्त्व की कमी शनैः शनैः राजा मुंज के काल से ही प्रारंभ होने लग गई थी और राजा मुंज के ही समय से अनादि काल से चला आया उज्जयिनी का साहित्यिक स्थान धारा नगरी को जाने लगा था। राजा मुंज के कवि पद्मगुप्त ने राजा मुंज के भाई सिंधुराज की प्रशंसा में नवसाहसांक-चरित लिखा है और उसमें धारा नगरी की जो प्रशंसा की है उससे पता चलता है कि धारानगरी उन दिनों कितनी प्रसिद्धि पा चुकी थी। परिमल ने लिखा है:—

विजित्य लंकामपि वर्ततेया।
यस्याश्च नायात्यलकाऽपि साम्यम्॥
जेतुः पुरी साप्य परास्ति यस्या
धारेति नाम्ना कुल राजधानी॥

इसी ग्रन्थ में राजा मुंज की भी प्रशंसा पाई जाती है। विद्वत् प्रिय एवं सरस्वती-भक्त राजा को वास्तव में उस समय सरस्वती कल्पलता का कंठ कहा जाता था और इनकी मृत्यु पर कहा गया था कि:—

"गते मुंजे यशः पुञ्जे निरालम्बा सरस्वती॥"

इनके समय में प्रसिद्ध कवि एवं शास्त्रकार निम्नलिखित थे ऐसा धारा रियासत के इतिहास में लिखा है।

(१) **धनपाल**—इनका जीवन चरित मेरुतुंगाचार्य ने भी दिया है जो अन्य स्थान पर प्रकाशित है। जैन-ग्रन्थों में इनको राजा भोज के समय में माना है। परन्तु धारा के इतिहास में इनको राजा मुंज के समय में बताया गया है और इनको मुंजराज का कुल पुरोहित बतलाया है। इनकी कन्या इला और बहन अवन्तिसुन्दरी दोनों ही विदुषी थीं। अवन्तिसुन्दरी के अलंकार-शास्त्र एवं कोष के प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। धनपाल के रचित् 'ऋषभ पंचाशिका' और 'तिलकमंजरी' के अतिरिक्त पाली भाषा का कोष "पाइयलच्छि" अथवा "देशी नाममाला" प्रसिद्ध है। इनका छोटा भाई शोभन मुनि भी विद्वान् था और राजदरबार में प्रतिष्ठित हुआ था।

(२) **धनञ्जय**—का 'दशरूपक' नाम का नाटयशास्त्र ग्रन्थ सर्वमान्य है। इसकी टीका—'दशरूपकालोक' नाम से धनंजय के छोटे भाई धनिक ने की है। धनिक ने एक दूसरा ग्रन्थ काव्यनिर्णय भी लिखा है। धनिक का पुत्र वसन्ताचार्य भी विद्वान् था। राजा मुंज ने वि० सं० १०३१ में इसको एक ग्राम दिया था ऐसा एक ताम्रपत्र से सिद्ध होता है।

(३) **अमितगति** का "सुभाषितरत्नसंदोह" नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। यह एक जैन मुनि थे।

(४) **भट्ट हलायुध**—यह राजा मुंज के राज्य के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त थे। भट्ट हलायुध की "राज व्यवहार तत्त्व" नाम की पुस्तक प्रसिद्ध है जिसमें दीवानी, फौजदारी कार्यप्रणाली पर प्रकाश डाला है। इनकी पिंगल छन्द सूत्रों पर टीका,—"हलायुध वृत्ति" के नाम से भी प्रसिद्ध है। न जाने कितने पंडित, विद्वान् और कवि राजा मुंज के आश्रित रहे थे परन्तु बहुतों की कृतियों का तो आज तक पता ही नहीं चला।

६—राजा भोजदेव

राजा मुंज के छोटे भाई सिंधुराज की प्रशंसा में 'नवसाहसांक चरित' परिमल कवि ने लिखा था। 'नवसाहसांक' के पुत्र राजा भोज का संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। सम्राट् विक्रमादित्य के अनन्तर भरतखंड में यदि उतना कोई कीर्त्तिशाली और सर्वविश्रुत राजा हुआ है तो वह राजा भोज हैं। इनके समय में संस्कृत साहित्य का गौरव धारा नगरी को प्राप्त हुआ और जहाँ तक उज्जयिनी का सम्बन्ध है प्राचीन साहित्यिक राजाओं में यह अन्तिम राजा है। धारा के अनन्तर मालवा की राजधानी मांडू हुई और उज्जयिनी की साहित्यिक कीर्त्ति राजा भोज अपने साथ उज्जयिनी से सदा को लेते गये। राजा भोज के जीवन-चरित्र से सभी अच्छी तरह परिचित हैं इसलिए उनके जीवन की छोटी छोटी बातें यहाँ लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। चालुक्य शी राजाओं से उनके कई युद्ध हुए। गांगेयदेव से भी युद्ध हुआ इसके विजय के स्मारक में एक लोह-स्तम्भ खड़ा किया था। अन्तिम युद्ध में कल्चुर के भीमदेव, चेदिराज कर्णदेव एवं कर्नाटक देश के राजाओं ने, सम्मिलित शक्ति से, भोजदेव के राज्य पर हमला किया जिसमें भोजदेव का पराभव हुआ और उनकी मृत्यु भी हुई।

इस पराभव से उनकी राज्य की सीमा की अधिक हानि नहीं हुई थी। धार रियासत के इतिहास में लिखा है कि बुन्देलखंड व बाघेलखण्ड को छोड़कर नर्वदा के उत्तर का सारा भारत और दक्षिण में गोदावरी तक सारा देश भोजदेव के अधीन रहा।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में भोजदेव को "त्रिविध वीर चूड़ामणि" की उपाधि से विभूषित किया गया है। वे रणवीर, विद्यावीर और दानवीरों के शिरोमणि थे। उनके आश्रित १४०० पंडित थे। मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में लिखा है—

"यद्विद्वद्भवनेषु भोज नृपतेस्तत्यागलीलायितम्"

(भोजदेव के आश्रित विद्वानों का जो ऐश्वर्य दिखाई देता है वह सब भोजराज की दानलीला है)। अलबेरूनी ने भी भोजराज की अत्यधिक प्रशंसा की है। भोजराज के समय में ही महमूद गजनवी के भारतवर्ष पर धावे प्रारंभ हो चुके थे और महमूद के साथ अरबी भाषा का विद्वान् अलबेरूनी भी भारत आया था। एक विदेशी शत्रु के पंडित की प्रशंसा वास्तव में भोजदेव की अतुल कीर्त्ति की सूचक है।

वांगमय के एक ही विभाग के ऊपर उनकी ग्रन्थ-रचना है ऐसा नहीं है। काव्य को छोड़कर अनेक शास्त्रों पर राजा भोज के लिखित ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं। धार के इतिहास में लिखा है कि जर्मन पंडित आऊफ्रेक्ट (Aufrecht) अपनी ग्रन्थ-सूची में २३ ग्रन्थ राजा भोज के मानता है। विषय-सूची के अनुसार उनके ग्रन्थ 'धार रियासत के इतिहास' में इस प्रकार दिये गये हैं:—

(१) **काव्य**—चंपू रामायण कांड ५; महाकाली विजय; विद्याविनोद; शृंगारमंजरी; कई प्राकृत के स्तोत्र।

(२) **अलंकार, कोष, व्याकरण**—सरस्वती कंठाभरण, नाममाला शब्दानुशासन, सुभाषित-प्रबंध, सिद्धान्त-संग्रह।

(३) **धर्मशास्त्र**—पूर्तमार्त्तण्ड, दण्डनीति व्यवहार समुच्चय एवं चारुचर्या।

(४) **योगशास्त्र**—राजमार्तण्ड (यह पातंजलि योगसूत्र पर टीका है)।

(५) **शिल्प-शास्त्र**—युक्ति कल्पतरु और समरांगण सूत्रधार।

(६) **ज्योतिष-शास्त्र**—(१) राजमृगांककरण
(२) राजमार्त्तण्ड
(३) विद्वज्जन-वल्लभ
(४) प्रश्नज्ञान
(५) आदित्य प्रताप सिद्धान्त

(७) **वैद्यशास्त्र**—(१) विश्रान्त-विद्या-विनोद
(२) आयुर्वेद सर्वस्व

(८) **पशु-चिकित्सा**—शालिहोत्र

संस्कृत साहित्य में भोजदेव का स्थान बहुत ही ऊँचा था। परन्तु शिल्प-शास्त्र में भी उनकी विद्या कम नहीं थी। 'युक्ति कल्पतरु' में शिल्प-विद्या के अतिरिक्त जहाज बनाने की क्रिया पर भी अच्छा प्रकाश डाला है और डाक्टर राधा कुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक Indian Ship Building में युक्त कल्पतरु के श्लोकों को आदर के साथ उद्धृत किया है। श्री राजेन्द्रलाल मित्र ने लिखा है कि यह ग्रन्थ भोजदेव का ही विरचित है।

राजा भोज पर कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। इन ग्रन्थों में हिन्दी में श्रीयुत् विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'राजा भोज' और अंग्रेजी में श्रीयुत् अध्यापक पी० टी० श्रीनिवास अय्यङ्गर एम० ए० (अन्नमलाई विश्वविद्यालय से प्रकाशित) का 'भोज राजा' प्रमुख हैं। परन्तु भोज के काव्य की आलोचना का इन दोनों में से किसी में जिकर नहीं है।

राजा भोज के बनाये १०४ मन्दिर बताये जाते हैं जिनमें केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, सुण्डीर, काल, अनल और रुद्र के मंदिर प्रसिद्ध थे। धार में सरस्वती का मंदिर जिसमें प्रसिद्ध विश्वविद्यालय वर्षों तक रहा, राजा भोज का ही बनाया हुआ था। कातंत्र व्याकरण के दो अहिफन इस विद्यालय में पत्थरों पर लगे हुए मिले हैं। उज्जयिनी में महाकाल के मन्दिर में भी एक ऐसा अहिफन खुदा हुआ है।

राजा भोज का सबसे प्रसिद्ध कार्य भोजपुर झील का निर्माण करना था। भोज के समय के बड़े दक्ष इंजीनियरों ने बेतवा नदी की घाटियों में २५० वर्ग-मील के क्षेत्रफल में यह झील बनाई थी। यह झील वर्तमान भोपाल से २० मील की दूरी पर पहाड़ों के बीच में थी। भोपाल—'भोज-पाल' का अपभ्रंश ही है। भोपाल से कलियाखेड़ी सड़क इसी झील के अवशिष्ट खंडहरों में से जाती है। राजा भोज नाव में बैठकर इस झील में प्रातः हवाखोरी को जाया करते थे। इस झील के कारण बेतवा में कभी बाढ़ नहीं आती थी।

राजा भोज के ४०० वर्ष बाद मांडू के सुलतान शाह हुसैन ने इस झील के बाँधों को तुड़वाया और असंख्य मजदूरों को लगाकर तीन साल में इस झील का पानी निकलवा दिया। वर्षों पानी रहने के कारण यहाँ की आबहवा में गर्मी नहीं रही और जहाँ पहले झील थी वहाँ गेहूँ की खेती अच्छी होने के कारण कई अच्छे अच्छे ग्राम और नगर बस गये हैं। कर्नल किनकेड को इस झील के वास्तविक स्थिति का पता लगाने में कई वर्ष लगे थे।

राजा भोज के रचित काव्य-ग्रन्थों और उनके काव्य-ज्ञान का परिचय कराना व्यर्थ है क्योंकि इस विषय में कई ग्रन्थ छप चुके हैं। यहाँ हम केवल उनके शिल्पज्ञान के विषय में ही कुछ उल्लेख करना अधिक समीचीन समझते हैं।

शिल्पज्ञान-विषयक राजा भोज का रचा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ 'समरांगण सूत्र-धार' गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से दो भागों में प्रकाशित किया गया है।

इसमें ८३ अध्याय हैं।

प्रारम्भ में शिवजी की इस प्रकार प्रार्थना है।

> **देवः स पातु भुवनत्रयसूत्रधार——**
> **स्त्वां बालचन्द्रकलिकाङ्कितजूटकोटिः।**
> **एतत्समग्रमपि कारणमन्तरेण**
> **कात्स्न्यादि सूत्रितम सूत्र्यत येन विश्वम्॥**

(तीनों लोकों को बनानेवाला वह कारीगर जिसकी जटा चन्द्रमा की कला से शोभित हैं और जिसने यह सारा जगत् बिना कारण और बिना नकशे के ही पूरी तौर से बना डाला—तुम्हारी रक्षा करे)।

एक अध्याय में भूमि की परीक्षा के तरीके बतलाकर फिर नगर, प्रासाद, आदि के निर्माण की विधियाँ बताई हैं।

इकतीसवाँ अध्याय महत्त्वपूर्ण है। यह "यन्त्र विधानाध्याय' है। अनेक यन्त्र बनाने के सिद्धान्त बताये गये हैं। यन्त्र की परिभाषा यह है :—

यदृच्छया वृत्तानि भूतानि स्वेन प्रवर्त्मना।
नियम्यास्मिन् नयति यत् तद् यन्त्रमिति कीर्त्तितम् ॥

[अपनी इच्छा से अपने रास्ते पर चलते हुए भूतों (पृथ्वी, जल आदि तत्वों) को जिसके द्वारा नियम में बाँधकर अपनी इच्छानुसार चलाया जाय उसे यन्त्र कहते हैं।]

आगे बताया है कि यन्त्र में जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु इन चारों का, ठीक तौर से, यथास्थान रखना ही उसके ४ तरीके हैं। इन चारों तत्वों का आश्रय होने से ही आकाश की भी उसमें आवश्यकता होती है। जिन लोगों ने पारे को इन तत्वों से भिन्न बताया है वे ठीक तौर से नहीं समझे हैं। वास्तव में पारा पृथ्वी का ही भाग है और जल, वायु और तेज के कारण ही उसमें शक्ति उत्पन्न होती है।

यन्त्रों के चार प्रकार के भेद बताये हैं। (१) अपने आप चलनेवाला (२) एक बार चलाने से फिर अपने से चलनेवाला (३) दूर से गुप्त शक्ति द्वारा चलाया जानेवाला और (४) पास खड़े होकर चलाया जानेवाला। इनमें अपने आप चलनेवाला यंत्र अन्य तीन यंत्रों से श्रेष्ठ है।

यंत्रों के द्वारा बनी हुई वस्तुओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यंत्र लगा हुआ हाथी चिंघाड़ता हुआ और चलता हुआ प्रतीत होता है इसी प्रकार के तोते आदि पक्षी भी ताल पर नाच और बोलकर देखनेवालों को आश्चर्य में डालते हैं; तथा पुतली, हाथी, घोड़ा अथवा बन्दर अपने अंगों का संचालन कर लोगों को प्रसन्न कर देते हैं।

इन यन्त्रों के द्वारा भूचरों का आकाश में संचार और आकाश संचारियों का भूसंचार, जल में अग्नि-दर्शन, अग्नि में जल-दर्शन, नीचे से पाँचवीं मंजिल (तल) तक शय्या का चला जाना (Lift), लकड़ी की पुतली का दीपकों के पास जाकर दीपकों में यथाविधि तेल डालकर लौट आना, यन्त्र-निर्मित हाथी के द्वारा विपुल जल-पान, यन्त्र द्वारा (Pump) बावड़ी, कुओं में से जल निकालकर खेतों में डाल देने की पूरी पूरी विधियों का वर्णन किया है।

आकाशचारी विमानों के निर्मित करने की विधि बतलाई गई है। विमान-निर्माण में रसराज पारद (पारा) का प्रधान उपयोग बताया है। पारद में विलक्षण उड़ने की एक विशिष्ट शक्ति पाई जाती है। पारे को एक हलके काष्ठ-निर्मित पक्षी के ढाँचे में कुंभ में बन्द करके तप्त किया जावे तो उसकी शक्ति से विमान आकाश-संचारी हुआ करता है ऐसा लिखा हुआ है। दुष्ट गज को भय बतलाने के लिए भी रसयन्त्र के द्वारा सिंहनाद कराये जाने की विधि बतलाई है।

पुस्तक के हिन्दी अनुवाद की अत्यन्त आवश्यकता है। पुस्तक पढ़ने से प्रतीत होता है कि यन्त्र चलाने में जो स्थान आज स्टीम (Steam) और पैट्रोल का है वही स्थान प्राचीन भारत में पारद (Mercury) का था। जो यन्त्र आज उपस्थित हैं उनसे भी अधिक विलक्षण यंत्र प्राचीन भारत की शोभा बढ़ाते थे ऐसा अंशुबोधिनी शास्त्र और अगस्त्यसंहिता के अनन्तर राजा भोज के समरांगण सूत्र पढ़ने से प्रतीत होता है। राजा भोज ने युक्ति कल्पतरु और समरांगण सूत्र की रचना से प्राचीन भारत की वास्तु और शिल्प-विद्या को अजर और अमर बना दिया है।
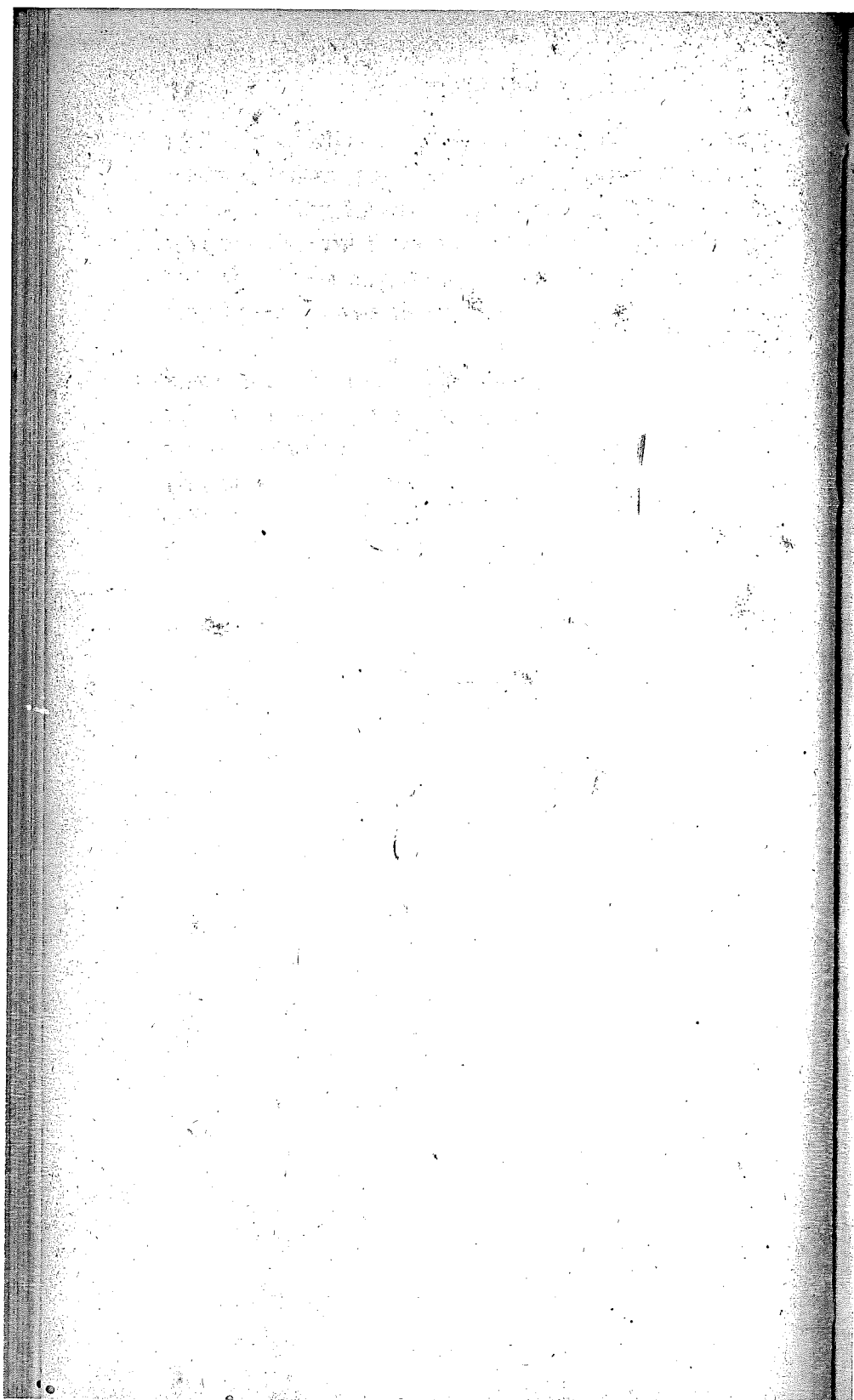
द्वितीय भाग
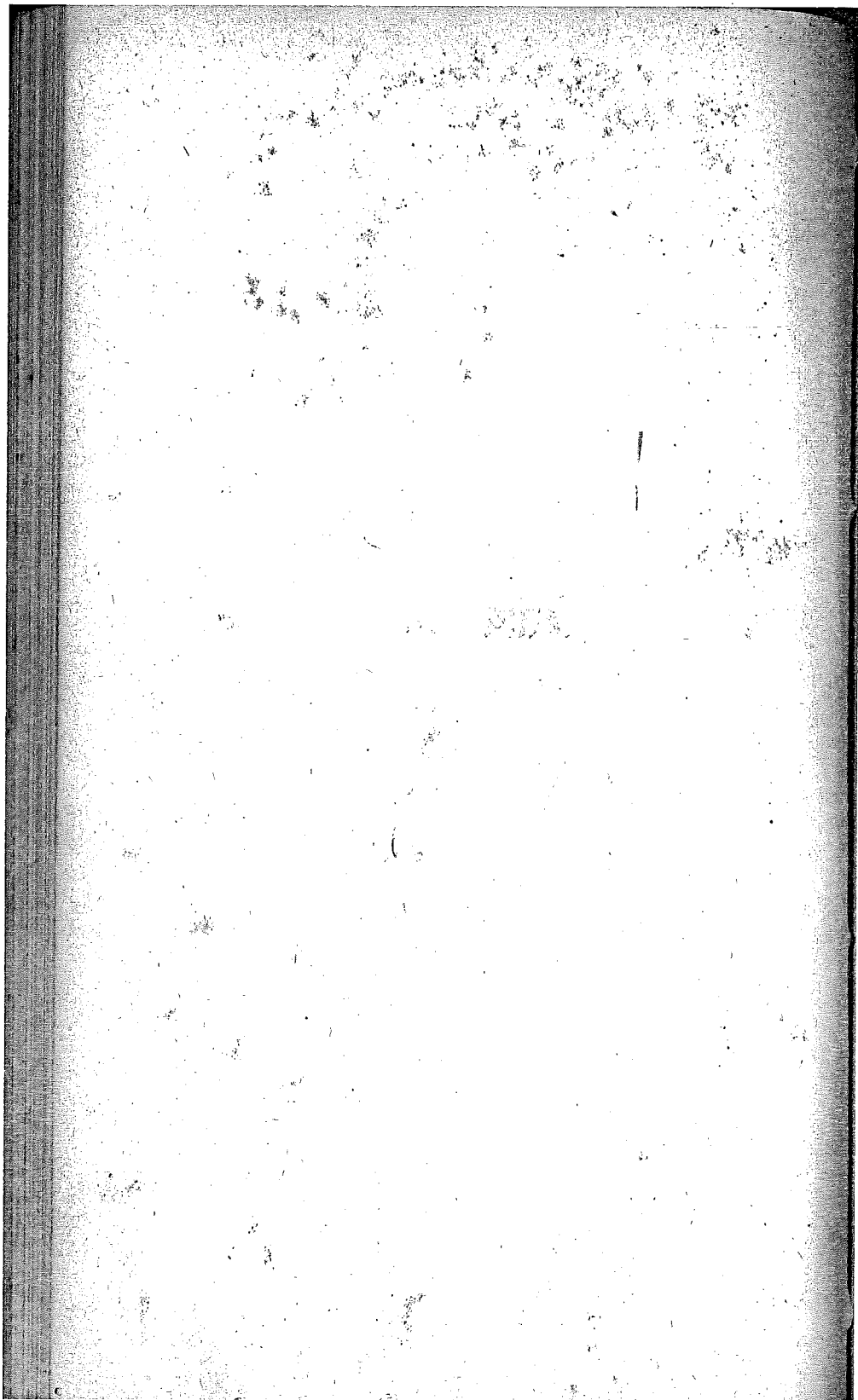
१०—कालिदास का मेघदूत

उज्जयिनी के क्षिप्रातट, महाकाल के मन्दिर, उत्सव-आमोद, भव्य भवनों की खिड़कियों से निकलती केश-गंध धूप, एवं, प्रेमी-प्रेमिकाओं के क्रीड़ाओं के प्रति, कालिदास के हृदय में, एक विशेष आकर्षण प्रतीत होता है। यद्यपि कालिदास का सर्वतोऽधिक प्रेम हिमालय पर्वत एवं गंगा नदी से रहा है क्योंकि "कुमार-संभव" एवं 'उत्तरमेघ' ऐसे वर्णनों से भरे पड़े हैं; तो भी यह बात निर्विवाद है कि कवि का उज्जयिनी एवं अवन्ति देश के प्रति विशेष आकर्षण था। संभव है कवि ने काव्यकार परीक्षा में सफल होकर उज्जयिनी अथवा अवन्ति देश को ही अपनी निवास-भूमि बना लिया हो। यह भी सम्भव है कवि की जन्मभूमि यहीं कहीं हो। 'रघुवंश' में, इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन करते हुए, कालिदास ने अवन्ति-नरेश का एक बहुत सूक्ष्म किन्तु आकर्षक वर्णन दिया है। दीर्घ बाहुवाले, विशाल वक्षवाले मध्य कटि प्रदेशवाले अवन्ति नरेश ऐसे प्रतीत होते हैं मानों विश्वकर्मा ने अत्यन्त तेजस्वी सूर्य को यंत्र पर रखकर काट-छाँटकर सुन्दर बना दिया है। यात्रा के समय इनके घुड़सवारों से उठी हुई धूल सामन्त राजाओं के मुकुट-मणियों को धूमिल बना देती है। महाकाल के पास ही महल में रहते हुए कृष्णपक्ष की रात्रि में भी, प्रियाओं के साथ, ज्योत्स्नामय रात्रि का अवन्ति नरेश अनुभव करते रहते हैं। क्षिप्रा की तरंगों से कम्पायमान उद्यानों की पंक्तियों में अवन्ति नरेश विहार करते रहते हैं (सर्ग ६; ३२ से ३५)। रघुवंश में इससे अधिक वर्णन नहीं है। किन्तु मेघदूत में तो कवि का अवन्तिका-प्रेम उमड़ पड़ा है। अतएव हम उन श्लोकों को यहाँ उद्धृत करना उचित समझते हैं। उन श्लोकों का गद्य में सरल अर्थ एवं राजा लक्ष्मणसिंह के ब्रजभाषा के पद्यानुवाद और वयोवृद्ध सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार के मन्दाक्रान्ता छन्द में किये गये पद्यानुवाद को भी हम श्लोकों के अर्थ को समझने के लिए देना उचित समझते हैं। हमने श्लोकों की संख्या, १९३५ में इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित राजा लक्ष्मणसिंहजी के पद्यानुवाद के अनुसार ही लिखी है। इसमें उज्जयिनी संबंधित दो श्लोक नहीं मिले। मल्लिनाथ की टीका में यह दोनों श्लोक प्रक्षिप्त बताये गये हैं; किन्तु कई अन्य टीकाओं में ये मिलते हैं। इनमें एक तो हम महाराज चण्डप्रद्योत के संबंध में उद्धृत कर चुके हैं जिसमें उदयन एवं वासवदत्ता के प्रेम एवं सुनहरी ताल-

वृक्षों के वन का उल्लेख है। दूसरा निम्नलिखित है जिसमें अत्यन्त समृद्ध-युक्त उज्जयिनी के बाजार का वर्णन है:—

हारांस्तारांस्तरलगुटिकान् कोटिशः शंखशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीमुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भंगा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥

श्री पोद्दारजी (सेठ कन्हैयालालजी) का अनुवाद इस प्रकार है:—

मुक्ता माला अगणित जहाँ हैं पड़ीं शंख-शीपी
दूर्वा जैसी विलसित-मणी श्याम वैदूर्य की भी
मूंगों के हैं कन-घन लगे, देख बाजार-शोभा
जी में आता अब उदधि में बारि ही शेष होगा।

(अर्थात् बाजार में दूकानों पर लगे हुए मोतियों के असंख्य हार, करोड़ों, शंख, शीपियाँ, एवं कान्तिवाली पन्नों की मणियाँ और मूंगों के ढेर देखकर यही प्रतीत होता है कि समुद्र के रत्न बाजार में आ चुके हैं। समुद्र में केवल जल ही जल रह गया है।)

यहाँ कालिदास ने उज्जैन के व्यापारिक महत्त्व को दिखाया है। बाणभट्ट ने भी इसी का अनुकरण किया है। अब हम मेघदूत के अन्य श्लोकों को उद्धृत करते हैं। उज्जयिनी से बड़नगर जाते हुए गंभीर नदी चार कोस पर मिलती है और गंभीर से चंबल भी लगभग इतनी ही दूर है। उज्जयिनी से चंबल तक कालिदास की 'अवन्तिका' थी। उसकी नैसर्गिक शोभा का वर्णन इससे अधिक मनमोहक हो नहीं सकता।

मेघदूत के श्लोक एवं गद्य अनुवाद

वक्रः पन्थाः यदि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां-
सौधोत्संग प्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौरांगनानां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥२८॥

हे मेघ! तुझे उत्तर दिशा को जाना है क्योंकि तू अलका को जानेवाला है। उज्जयिनी पश्चिम में है। टेढ़ा मार्ग होने पर भी, बिना उज्जैन के महल देखे हुए तू आगे मत बढ़ना। वहाँ की पौरांगनाओं के बिजली की चमक से चकित हुए चंचल कटाक्षों के नेत्र-रस का, यदि, आनन्द न लिया; तो, तेरा जन्म ही व्यर्थ होगा।

हिन्दी में पद्यानुवाद

(क)

(राजा लक्ष्मणसिंहजी कृत व्रजभाषा में)

तो दिस उत्तर चालन हार के,
मारग तो हून फेर परे बिन।
वा उज्जयनि के आछे अटा,
पर से बिन तू चलियो कितहू जिन।
चंचल नैन वहाँ अबलान के,
बिज्जुछटा चकचौंध करै छिन।
जो न लख्यौ उन नैनन तू,
हक नाहक देह धरैही फिरे गिन॥

(ख)

(सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार का अनुवाद)

होगा टेढ़ा-पथ, यदपि तू उत्तर-प्रान्त-गामी
उज्जयिनी के भवन-विमुखी हो, न जाना तथापि।
विद्युत-आभा-सा-चकित वहाँ पौर-लोलाक्षियों का,
लेगा जो तू दृग-रस न, तो, जन्म ही व्यर्थ होगा।

वीचिक्षोभस्वनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमोहि प्रियेषु॥३०॥

(यहाँ निर्विन्ध्या नदी का वर्णन है। वह नदी अनुरक्ता नायिका सी लगती है) वह नदी जल की तरंगों की हिलोरें लगने से ध्वनि करती हुई और तीर पर बैठे हंसों की पंक्ति रूप किंकिणी की झनकार सुनाती हुई, मन्दगति से गमन कर रही है। उसमें जो भंवर पड़ रहे हैं वही उसकी नाभि है वह उन नाभिरूप भंवर-चक्रों को दिखलाती हुई स्वच्छन्दता से बह रही है। विलासिनी स्त्रियों का अपने प्रेम-पात्र के सम्मुख विभ्रम-भाव (अनेक प्रकार की विलास-चेष्टाएँ) दिखलाना ही पहला प्रणय-वचन (या प्रणय-संभाषण) माना जाता है। ऐसा समझते हुए कि निर्विन्ध्या नदी भी प्रेमानुरक्ता होकर विभ्रम भाव से तुझे प्रणय के लिए बुला रही है तू उसका भी, मार्ग में, रस लेते जाना।

(क)

रस बीच में लै चलियो निरबिन्ध को,
जो मग तेरो निहारती है,
कटि किंकिन मानों बिहंगम पाँति
तरंग उठे झनकारती है।
मन रंजन चालि अनोखी चले
अरु भौंर की नाभि उघारती है,
बतरान है मीत सों आदि यही--
तिय-विभ्रम मोहनी डारती है।

(ख)

है वीची से ध्वनित जिसके किंकिणी सी खगाली
जाती धीरे रुक रुक चली चक्र-नाभी दिखाती--
निर्विन्ध्या से मिल, स-रस हो मार्ग में, है स्त्रियों का
प्रेमालाप प्रणयि जन से आदि में विभ्रमों का।

वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिःजीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥३१॥

इसके आगे वह नदी तेरे लिए वियोगिनी का रूप रख रही मालूम पड़ेगी। जेठ मास में गर्मी और सूर्य की धूप से सूखकर वह नदी इतनी पतली हो गई है कि उसकी पतली जल-धारा एक वेणी के समान मालूम होती है और वियोगिनी की तरह अति संतप्त होकर तुझे पाने को उत्सुक हो रही होगी। वियोगिनी पीली पड़ जाती है। नदी के तट पर वृक्षों से गिरे हुए पीले पीले पत्तों से नदी ही पीली प्रतीत होती है। उसके दुबलेपन को मिटाने का कार्य तुझे करना चाहिए। तू उसे वर्षा द्वारा समागम करना और इसी रस (जल) से उसका दुबलापन दूर हो जायगा।

(क)

जल सूखत सिन्धु भई पतरी
तन बेनी सरीको दिखावती है
तट रूखन तें झरें पात पके
छवि पीरी मनो अँग लावती है।

धरि सोहनो रूप वियोगिनी को,
वह तोमें सुहाग मनावती है।
करियो धन सो विधि वाके लिए
तन छीनता जो कि मिटावती है॥

(ख)

देखी जाती कृश-सलिल हो एक-वेणी-स्वरूप--
जो वृक्षों के गिर दल-पके हो रही पाण्डु-रूप।
तेरे को है उचित, उसका मेटना कार्श्य क्योंकि
ऐसे तेरा प्रकट करती मित्र! सौभाग्य जो कि॥

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्॥
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्॥३२॥

श्री विशाला-उज्जयिनी पुरी का ही नाम है। वह विशालपुरी है। विशाला अवन्ती में वृद्ध लोग उदयन के प्रेम परिणय की कथा कहा करते हैं।(उदयन वत्सराज थे। उज्जयिनी के राजा चंड महासेन के यहाँ बंधन में रहे जहाँ राज-कुमारी वासवदत्ता से प्रेम हो गया, फिर ब्याह हो गया। इसकी सविस्तर कथा चंडप्रद्योत के लेख में हमने दी है)।

इस विशाला की शोभा स्वर्गीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि अच्छे लोग पुण्य प्रभाव से स्वर्ग गये हों और फिर पृथ्वी पर लौट आये हों; और वापिस आते हुए अपने साथ, बचे हुए पुण्य को भोगने के लिए स्वर्ग से ही एक कान्तिमान् खण्ड भी उठा लाये हों। (सोमदेव ने 'कथासरितसागर' में और बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में उज्जैन को अमरावती और अमरलोक बताया है)।

(क)

ख्यात है अवन्ती जहाँ केतेक निवास करें
पण्डित जनैया उद्‌यन की कथान के।
जाइके तहाँ प्रवेश कीजो वा विशाला बीच
देख लीजो शोभा साज सकल जहान के।
भूमि तें गये जो नर देवलोक भोगिवे को
करि करि काज बड़े धर्म औ प्रमान के।

तेई फेरि आये, संग सारभाग स्वर्ग लाये,
　　प्रबल प्रताप मनो शेष पुन्नदान के ।।

(ख)

जानें, ग्रामी, उदयन-कथा वो अवन्ती रसाला—
जाके, जाना फिर घन ! उसी श्री-विशाला-विशाला।
लौटे स्वर्गी-जन, सुकृत का भोगने भाग-शेष
लाये मानों धरणि पर वे स्वर्ग का खंड एक ।।

दीर्वीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्री कषायः
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ।।३३।।

उज्जयिनी सिप्रा (या क्षिप्रा) नदी के तट पर है। सिप्रा नदी का प्रातःकाल का मन्द मन्द समीर—धीरे धीरे चलनेवाला पवन खिले—कमलों से मिलकर सुगन्धि को फैलाता है। उस पवन के कारण सारस पक्षी मदपूरित होकर जोर जोर से कूजने लगते हैं। और जब स्त्रियों के अंगों में लगता है तो रात्रि की उनकी रतिजनित थकावट दूर हो जाती है और इसलिए विलासिनी युवतियों को यह पवन अनुकूल प्रतीत होता है। जैसे प्रियतम रमणी को प्रसन्न करने के लिए खुशामद करके चातुर्य दिखाता है ऐसे ही यह पवन भी, सुगन्धित द्रव्य, मद भरे मृदु शब्द और अंगस्पर्श से चतुर नायक की भाँति क्रिया कर रहा है।

(जहाँ निर्जीव मेघ संदेश ले जाने को नियुक्त किया गया है और नदियाँ नायका रूप में देखी गई हैं वहाँ सिप्रा का प्रातःकाल का पवन भी नायक रूप में दिखाया गया है। कालिदास की कल्पना की खूबी यही है)।

(क)

प्रातकाल फूले नित्त कंजन तें भेंटि भेंटि
　　रंजन हिए कौं होत गंध सरसानो है।
दीरघ करत मदमाते बोल सारस के,
　　सुरन रसीले सुने कान सुख मानो है।
एते गुन साथ तात, सिपरा नदी की बात
　　पीतम समान बीनती में अति स्यानो है।
सुरत ग्लानि हरत सोई तहाँ नारिन की
　　गात हितकारी जात याही तें बखानो है।

(ख)

चेतो हारी ध्वनि मद-भरी सारसों की बढ़ा के
प्रातः फूले कमल-रज की गन्ध को भी उड़ा के
शिप्रा-वायु प्रिय-सम जहाँ प्रार्थना से रिझाता
कान्ताओं का श्रम, सुरत का स्पर्श से है मिटाता।

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखिन्नान्तरात्मा
नीत्वा खेदं ललितवनितापादरागांकितेषु ॥३४॥

इस श्लोक में उज्जैन के महल और उज्जैन की स्त्रियों की विलासप्रियता का वर्णन है।

अवन्ती में स्त्रियाँ अपने केशों को अगर चन्दन इत्यादि के धुएँ से सुगन्धित करती हैं। वही सुगन्धित धुआँ भव्य गृहों के झरोखों और खिड़कियों से बाहर निकला करता है। धुआँ बादलों में आकर मिला ही करता है। वह सुगन्धित धुआँ जब तुझमें मिलेगा तो, हे मेघ! तेरा शरीर पुष्ट हो जायगा और तुझे देखकर बन्धु प्रीति दिखलाते हुए उन भवनों के ऊपर पालतू मोर नाचकर तेरा स्वागत करेंगे। वह महल सुगन्धित पुष्पों से सुरभित हो रहे होंगे। और उनकी छत्तों पर ललित बनिताओं के महावर लगे पैरों के चिह्न अंकित होंगे। ऐसी छत्तों पर तू विश्राम लेकर अपनी थकावट मिटाना!

(उज्जैन की धूप, अगरबत्ती और सुगंधित द्रव्य अभी तक प्रसिद्ध हैं।)

(क)

उड़त झरोखन तें केशगंध धूप वहाँ
होई अंग तेरो पुष्ट मेघ वाहि पीजो तू।
देखि तोहि बार बार नाचेंगे घरेलू मोर
प्रीति सतकार मीत सोई मान लीजो तू।
सोंधे होइँ फूलन तें मन्दिर अवन्तिका के
चैन थके गातन कों नैक तहाँ दीजो तू
ललित तियान पाँव रंजित महावर तें
अंकित अटान जाइ बिसराम कीजो तू॥

(ख)

जालों में से कच-सुरभिता-धूप पा पुष्ट होगा
देंगे तेरे प्रिय गृह-शिखी, नृत्य सत्कार सो पा।
शोभा उसकी, लख, सुरभि से युक्त हर्म्य-स्थलों में
खोना, श्रान्ती; ललित-रमणी-पाद-रागांकितों में ।।

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्य माणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या
स्तोयक्रीड़ानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ।।३५।।

फिर उज्जयिनी में तू चंडेश्वर महाकाल के पुण्यधाम को भी जाकर देखना। तेरा रंग नीला है इसलिए शिवजी के गण लोग अपने स्वामी के नीलकण्ठ की छवि देखकर तेरा आदर-सत्कार करेंगे। उसी धाम में गन्धवती नदी बहती है जिसमें युवतियों के सुगन्धित उबटन लगाकर स्नान करने से जल में भी सुगन्ध आने लगती है। वह उन उद्यानों से सुशोभित है जिसमें कमल के फूलों के पराग की गन्ध मिलकर और भी गन्धवती को सौरभमय बना देती है।

(वर्तमान महाकाल मन्दिर के पीछे, हरसिद्धी देवी के मन्दिर तक, रुद्रसागर है। वह सदा कमल के फूलों से सुवासित रहा करता था। अभी २० साल पूर्व तक उसमें अत्यन्त सुगन्धित कमल पुष्प होते थे। इस सागर में जो जल का स्रोत आता था उसे गन्धवती कहते थे आज गन्धवती नहीं है। उसके स्थान में 'गंधा नाला' बरसात में बहता है!!)

(क)

जइयो तू फेर मीत पावन पुनीत ठाँव
चंडेश्वर धाम तीन लोक अधिकारी के।
नाथ के गरे की छबि, देखि अंग तेरे माँहि,
आदर सों लेंगे तोहि, गण त्रिपुरारी के।
करें जल केलि नारि नागरि नवेली तहाँ,
गन्धित है नीर गन्धवती सिंधु प्यारी के।
नीरन ते मोद औ कमोदन तें लै पराग
पवन झकोरे नित्त रूख बागबारी के।।

(ख)

जाना पुण्य-स्थल घन ! वहाँ श्री महाकाल-धाम
सन्मानेंगे शिव-गण तुझे स्वामि-कण्ठाभ जान
स्त्री-क्रीणा से सुरभित जहाँ गन्धवत्ती-समीर-
उद्यानों को कमलरज से दे रहा कम्प-धीर ॥

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदभ्येति भानुः ॥
कुर्वन्सन्ध्यावलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया ।
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३६॥

(श्री शिव भगवान् की पूजा का मुख्यकाल संध्या काल माना जाता है)

हे मेघ ! यदि तू किसी दूसरे समय में वहाँ पहुँचे तो भी सूर्यास्त तक महाकाल मन्दिर में ही ठहर जाना। संध्याकाल की आरती के समय जब प्रशंसनीय पूजा हो रही होगी तब तुझे भी सेवा का अवसर प्राप्त होगा। तू जरा गंभीर होकर मन्द मन्द गरजना तो वह दुंदुभी की ध्वनि सी मालूम होगी। इसलिए भगवान् भी तुझ पर प्रसन्न होंगे।

(क)

साँझ के बिना जो कहूँ पहुँचे तू और काल
महाकाल जू के पुण्य आश्रम में जाइ के।
ठौर तहाँ लीजो ईठ, भानु रहे जोलों दीठ
दिवस उजारो रहे छिति छहराइ के।
संध्यावलि पूजन जब होइ शूलधारी कौ
दुन्दुभि की ठौर दीजौ गरज सुनाइ के।
मन्द मन्द घोरन कौ पावैगो फल अखण्ड
ऐसे बरदाई देव-देव कौं रिझाइ के॥

(ख)

जो तू जावे पहुँच पहिले, स्थान-गौरीपती के
तो भी सन्ध्या तक ठहरना मित्र मेरे ! वहीं पै।
सायं आर्ती-समय करना दुंदुभी की ध्वनी सी
होगी तेरी सब सफलता गर्जना-माधुरी की॥

पादन्यासक्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।

वेश्यास्त्वत्तोनख पदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दून्
आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥३७॥

सायंकाल की आरती के समय वहाँ मंगलामुखी नृत्य किया करती हैं। उनके नृत्य के समय किंकिणियाँ बजेंगी। वह रत्नजटित शोभायमान दंडवाले चँवरों को धीरे धीरे हिला रही होंगी जिससे उनके हाथ थक गये होंगे। बाजे के ताल के साथ पैरों के घूँघरू के शब्द मिलाने से बारंबार ताल देने में नख घिस जाने से नखक्षत हो गये होंगे। जब तेरी वर्षा की एक दो-बूँदें वहाँ पड़ेंगी तो उनको बड़ा सुख मिलेगा। और तब वह तेरे ऊपर, सुख के आभार से, भौंरों की पंक्ति के समान दीर्घ कटाक्ष डालेंगी।

(क)

नाचत नवेली तहाँ वेश्या अलबेली बाल
किंकिनी बजति पग धरत सुहावनी।
रत्नजड़ी डाँड़िन के डोलति हैं ठाढ़ी चौर
थकित भुजान करें लीला ललचावनी।
जाइ नखरेखन में उनके परेंगीं जब
नई बूंद तेरी मेघ सुख सरसावनी।
बड़े से कटाच्छ तो पै भ्रमरावली समान
डारेंगी सनेह भरे वेई मनभावनी॥

(ख)

होती मीठी, पद-धमक से किंकिणी की ध्वनी हैं
लीला से, जो चँवर करती श्रान्त हस्ता हुई हैं।
पा, बूंदों के नख-पद लगें, मोद, वेश्या वहाँ की
डालेंगी वे तुझ पर अलि-श्रेणि-सी दृष्टि-बाँकी॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥३८॥

इसके बाद, जब तू, ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के वन पर छा जायगा तब तेरी तो नीली घटा होगी और सांध्य-गगन की लाली भी छा जायगी। वह लाली खिले हुए जवा-कुसुम की तरह होगी। उस लाली का प्रतिबिंब जब तेरे श्याम रंग पर पड़ेगा तो तू ऐसा मालूम होगा मानों लोहू टपकता हुआ हाथी का चमड़ा (गज-चर्म)
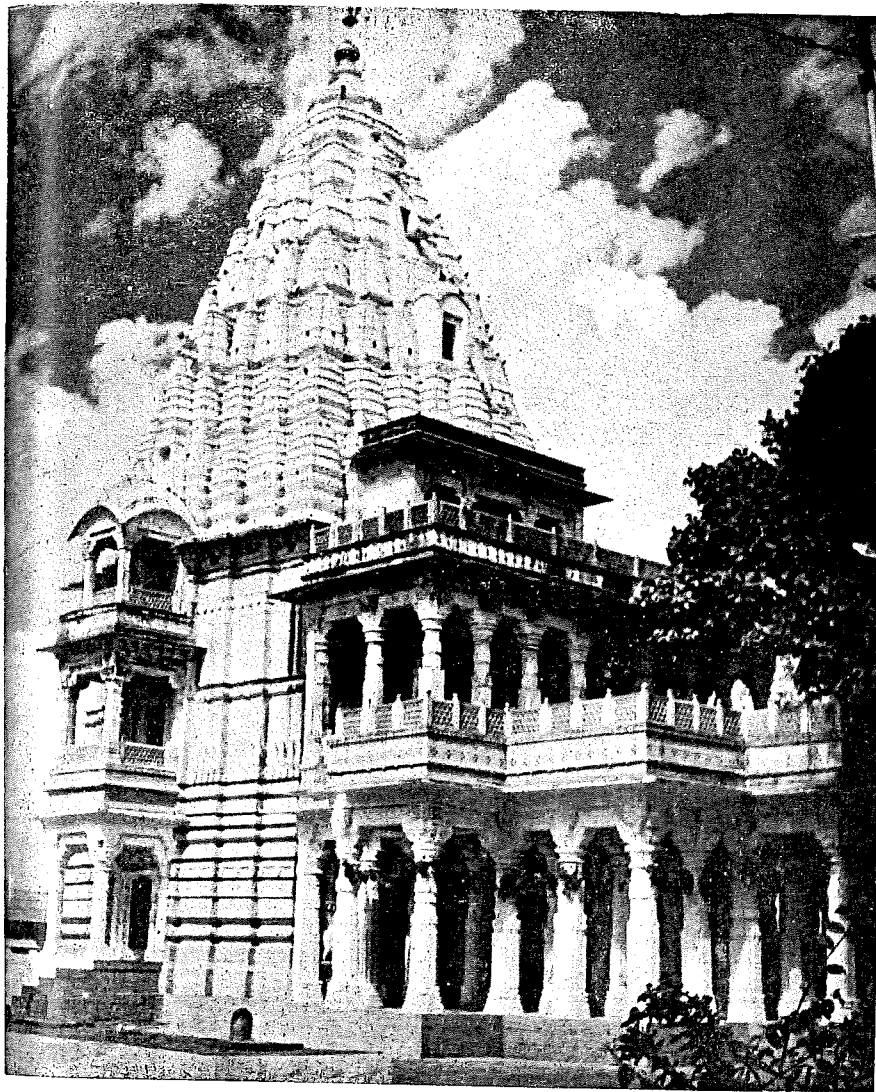
श्री महाकाल का मन्दिर
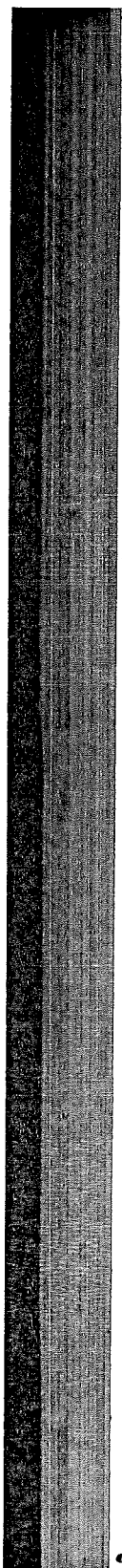
है। ताण्डव नृत्य के समय ऐसा भींगा गज-चर्म महादेवजी पसन्द करते हैं इसलिए तुझे देखकर गज-चर्म की इच्छा ही पूरी हो जायगी। भवानी उसी भींगे गज-चर्म को देखकर ग्लानि करती हैं। तुझे देखकर वह ग्लानि नहीं होगी। और वे तुझे प्यार की दृष्टि से देखेंगी।

(यहाँ कल्पना की उड़ान तो ऊँची है ही। साथ-साथ ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के वन पर बादलों के छा जाने से उस वैज्ञानिक सिद्धान्त की ओर ध्यान दिलाया है जो यह बतलाता है कि किसी स्थान में पर्याप्त जल-वर्षा के लिए ऊँचे-ऊँचे वृक्षों का सघन जंगल सुरक्षित होना आवश्यक है। बन उगाने (Afforestation) के सिद्धान्त से हमारे कवि-सम्राट् भली प्रकार परिचित थे)।

(क)

बाँधि फेरि मंडल जब लेगो तू छाइ मीत
लाँबी-सी भुजान रूप ऊँचे रूखवारो बन।
फूल है जवा कौ नयो ता समान लाल रंग
तेज साँझ कालहू कौ धारि लेगो कारे तन।
नृत्य समै ओढ्यो चहैं आलो गजचर्मनाथ
देखि तोहि भूलि जाइ ताकौ खरो प्यारोपन।
ग्लानि के मिटे ते स्वस्थ चित्त ह्वै भवानी तोहि
प्यार सों लखेंगी आज हरष्यौ हमारो मन॥

(ख)

छा लेना तू भुज-वन पुनः मण्डलाकार से, जा
धारें सन्ध्या-द्युति नव-जपा-पुष्प-सी नृत्य वेला।
इच्छा गीले गज-अजिन की शम्भु की तू मिटाना
श्री गौरी को कर मुदित यों भक्ति तेरी दिखाना

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र रात्रौ
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः॥
सौदामिन्या कनक निकषच्छायया दर्शयोर्व्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः॥ ३९॥

अवन्ती में तुझे बहुत सी रमणियाँ अपने प्रियतमों के स्थानों पर जाती मिलेंगी। तेरे कारण, वहाँ इतना घना अन्धकार हो जायगा कि उसको सुई की नोक से भी छेदा जा सकता है। यह अँधेरा राज-पथ में भी होगा इसलिए उनको कष्ट होगा। जब उनको राह न सूझे तो कभी-कभी मन्दी सी बिजली ऐसी चमकाते

रहना जैसी काली कसौटी पर सोने की रेखा होती है। परन्तु न तो गरजना और न पानी बरसाना, क्योंकि वे डरपोक होती हैं। नाहक वे डर जायँगी।

(क)

मीत के मन्दिर जाति चलीं
मिलिहैं तहाँ केतिक राति में नारी
मारग सूझ जिन्हें न परै जब
सूचिका भेद झुके अँधियारी।
कञ्चन-रेख कसौटी सी दामिनि
तू चमकाइ दिखाइ अगारी
कीजियो ना कहुँ मेह की घोर
मरें अबला अकुलाइ बिचारी॥

(ख)

जाती हुई प्रिय-सदन को नारियों को निशा में—
सूची-भेदी घन-तम-घिरे मार्ग को तू वहाँ पै
तेरी नीलोपल-कनक-सी दामिनी से दिखाना
हैं वे भीरु जलद! न कहीं गर्ज पानी गिराना॥

तां कस्याञ्चिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्न विद्युत् कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥४०॥

चमकते-चमकते तेरी प्यारी बिजली थक जायगी। अतएव उज्जयिनी के किसी एकान्त महल की छत पर—जहाँ निर्जन में कबूतर सोते हों—तू भी विश्राम कर रात्रि व्यतीत करना। सूर्योदय होते ही, बाकी मार्ग को काटने को चल देना। जिसने मित्र के कार्य की जिम्मेवारी ले ली है उसे आलस्य में आना उचित नहीं है।

(क)

थकि जायगी दामिनि तेरी तिया
बहु बेर लौं हास बिलास करे।
टिक राति में लीजियो काहू अटा
जहाँ सोवत होइँ परेवा परे॥
दिन ऊगत फेर उतै चलियो
जित में चलिबे को रहे दगरे।

सहतात कहाँ नर वे जग में
जिन मीत के कारज सीस धरे॥

(ख)

होगी श्रान्ता चिर-विलसिता दामिनी-कामिनी, सो--
सोते पारावत-छत वहाँ तू बिता यामिनी को।
प्रातः होने पर फिर वही काटना मार्ग जाके
ढीले होते सुहृद न, उठा मित्र का कार्य माथे॥

तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खंडितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्त्रं कमलबदनात् सोऽपि हर्त्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः॥४१॥

सूर्योदय के समय, उज्जैन की खंडिता नायिकाओं के पति रात्रि दूसरे स्थान में व्यतीत करके घर पर आकर अपनी रुष्ट स्त्रियों को मनाते हुए उनके आँसू पोंछते हैं और उनका क्लेश मिटाते हैं। सूर्य भगवान् भी ऐसे ही पति हैं जो रात्रि कहीं दूसरे स्थान में व्यतीत करके प्रातःकाल वापिस आकर अपनी प्रिया कमलिनी को मनाते हैं और ओस की बूँदों (आँसुओं) को अपनी किरणों से पोंछते हैं। अतएव तू शीघ्र ही भगवान् भास्कर का मार्ग छोड़ देना नहीं तो कमलिनी और खंडिता नायिकाओं के क्लेश मिटने में और भी देर होगी। और सूर्य भगवान् क्रोधित होंगे।

(क)

भोर भएँ बनिता खँडितान के
मीत मिलें, अँसुआ पुछ जात हैं।
छोड़ियो यातें तुरन्तहि सो मग,
जा मग आवत भानु प्रभात हैं॥
चाहत वेहु मिटावन कों
नलिनी-मुख ओस के आँसू दिखात हैं।
रोकियो ना उनकी किरनें
अनखाइँ बड़े अनखान की बात हैं॥

(ख)

पोंछें आँसू प्रिय-जन सभी खण्डिता नारियों के
सो तू प्रातः समय रवि का छोड़ना मार्ग, क्योंकि

प्रालेयास्रं कमल-मुख से पद्मिनी के मिटाने-
लौटें वे भी, तब कर रुकें होयँगे वे रिसाने॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यात्
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि॥४२॥

(उज्जैन से चलते ही लगभग ४ कोस पर गंभीर नदी मिलती है) गंभीरा का जल इतना स्वच्छ है कि प्रतीत होता है कि उसका निष्कपट अन्तःकरण है। उसके उस निर्मल जल में तेरा प्रतिबिंब ऐसे बस जायगा जैसे किसी प्रेमी का चित्र, अनुरक्ता हृदया स्त्री के प्रसन्न अन्तःकरण में बस जाता है। उसमें फड़कती चंचल सफरी मछलियों की झपट हैं वही कमल समान स्वच्छ नेत्रों के कटाक्ष हैं। तू भी जब नदी के जल में छाया डाले तो उनको धैर्य देते हुए कटाक्षों का रस लेते हुए निराश मत करना।

(गंभीर नदी की मछलियाँ आज भी बहुत अच्छी मानी जाती हैं)

(क)

अति उज्जल नीर गँभीरा नदी
निरदोष हिए के समान धरै।
मनभावन तो प्रतिबिम्ब सुहावन
ता जल जाइ परै ही परै।
फिर का विधि होइगौ जोग जू तू
निठुराई सखा इतनी पकरै।
सफरी गति चंचल स्वच्छ सरोरुह
बाँकी चितौनि निरास करै॥

(ख)

गम्भीरा के जल हृदय से स्वच्छ में भी सुवेश--
छाया तेरी सु ललित अहो! स्निग्ध होगी प्रवेश।
पीछे, उसके चलित-सफरी-कंज-कान्ति-कटाक्ष,
होगा तेरे उचित न कभी जो करेगा निराश॥

तस्याः किंचित् करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।

प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४३॥

इस श्लोक के समझने में किंचित् अधिक श्रम करना पड़ेगा क्योंकि कल्पना बहुत ऊँची है। अनुकूला नायिका प्रियतम द्वारा वस्त्र खींचा जाने पर ढीला होकर कमर से छूटे हुए वस्त्र को, लज्जा दिखलाती हुई नाम के लिए रोकती सी है। लज्जा का भाव नाममात्र को रहता है। ऐसे ही कवि ने कल्पना की है कि नदी का नीला जल है वही वस्त्र है। उस नीले जल को बादल का खींचना स्वाभाविक है। वह वस्त्र जब खींचा जा रहा है तो सफेद रंग के किनारे (तट) पर आता है। वही नदी का कटिप्रदेश (नितंब) माना है। वहाँ बेंतों के वृक्षों (झुरमुट) में वह पानी फिर रुक जाता है। वही वृक्ष मानो नदी के हाथ हैं। और ऐसा प्रतीत होता है कि केवल लज्जा के नाम-मात्र भाव से ही नदी अपने जल को बादल से रोक रही है। यक्ष कहता है कि हे मेघ! मुझे ज्ञात होता है कि इस श्रृंगार-चेष्टा में तुझे देर लग जायगी क्योंकि वस्त्र-हीन जंघाओं के स्वाद को कौन अनुभवी छोड़ने में समर्थ हो सकता है?

(क)

तट सों उठि वाको सलिल, लग्यो डार बानीर।
कर पकरत सरक्यो मनौं, कटि तें नीलो चीर॥
लिए ताहि कैसे बनै, प्यारे तेरो गौन।
नगन जघन के तजन को, रसिया समरथ कौन?

(ख)

पानी उसका तट हट, लगा शाख-बानीर के, वो
मानों नीला-पट कटि-छुटा ले रही हाथ में सो—
खेंचे पीछे अति कठिन है, मित्र! प्रस्थान आगे
स्वाद-ज्ञाता जघन-उघरी-स्त्री भला कौन त्यागे?

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४४॥

तेरे बरसने से बसुधा गन्ध से सुगन्धित होकर शोभायमान होगी। सूँड़ों के छिद्रों में ध्वनि सुन्दर मालूम होते हुए उस पवन को हाथी प्यार से पीने

लगेंगे और जंगली गूलरों को पकानेवाला वह पवन देवगिरि पर्वत तक मार्ग में तेरी सेवा करता रहेगा।

(क)

तो बरसत छिति गन्ध मिलि, होय पवन रमनीय।
बन गूलर पकवन प्रबल, श्रवन सुभग गज प्रीय॥
शीतल मंद सुगन्ध बहि, करिहैं पग पग सेव।
मारग में जब तू चलै, पहुँचन को गिरि देव॥

(ख)

तेरी बूँदें-गिर भुवि उठी रम्य-सौरम्य बाला।
पीती जिसको सु-रव करके सूँड़ से हस्तिमाला
ठंडा धीरें-चल पवन जो गूलरों को पकाता
होगा, जाते सुर-गिरि, तुझे वो बड़ा मोद-दाता।

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनाम्
अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः॥४५॥

वहाँ देवगिरि पर स्कन्द भगवान (स्वामी कार्त्तिकेयजी) सर्वदा निवास करते हैं। उनका जन्म इन्द्र की रक्षा के लिए हुआ था। मेघ इन्द्र का प्रधान है। इन्द्र के कारण, स्कन्ददेव तेरे पूजनीय हैं। उनका पुष्पाभिषेक करना चाहिए। इसलिए तू उनको, आकाश गंगा के जल से भीगे हुए पुष्पों की वर्षा करके स्नान कराना। इन्द्र की सेना की रक्षा के निमित्त नवचंद्रशेखर-शिव ने अपने तेज को अग्नि के मुख में छोड़ा था। उस तेज के आगे सूर्य का तेज भी कम है। उसी तेज से स्कन्द का प्रादुर्भाव है।

(वाल्मीकि ने स्कन्द की उत्पत्ति का इतिहास लिखा है। तारकासुर दैत्य से जब देवसेना पीड़ित हो चुकी थी तब शिव ने अपना तेज अग्नि को दिया। अग्नि उसको सहन न कर सका। अग्नि वह तेज गंगाजी में डाल आया। गंगाजी ने सरकंडों के वन में रखा। वहाँ छः कृत्तिकाओं ने पाला इसलिए इनका नाम 'पावकी', 'शरवनभव', 'षडानन', 'गंगापुत्र' एवं 'कार्त्तिकेय' हुआ। इन्होंने तारकासुर को मारकर देवसेना की रक्षा की। कालिदास इनके भक्त थे। कुमारसंभव इन्हीं के जन्म के विषय में लिखा है।)

(क)

नित्त निवास कुमार करे वहाँ
तू उनको अन्हवाइयो जाइ के।
पुष्पमई बदरा बनि के,
नभगंग मिले फुलवा बरसाइ के।
जन्म दियो हर पावक में
जिनको सुरराज चमूहित लाइ के।
मन्द करें रबि को परतापहु
आपने मात पिता गुन पाइ के॥

(ख)

हो पुष्पों का जलद, करना, स्कन्द के धाम तू जा—
स्वर्गंगार्द्रीं-कुसुम-बरसा से वहाँ स्नान पूजा।
एन्द्री-सेना-हित गिरिश ने तेज-सूर्यापहारी—
रक्खा था जो दहन-मुख में है वही कान्ति-धारी॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापांगम् हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरम्
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः॥४६॥

स्वामी कार्त्तिक का वाहन मोर है—पुत्र के मोर पर पार्वतीजी का बहुत प्यार है। इतना प्यार है कि उसके गिरे हुए पंखों को—(जिसमें चंदोए तारे से जड़े हैं)—पार्वतीजी कमल के फूलों के स्थान में, कान पर भी रख लेती हैं। वह बड़ा सुन्दर मोर है उसके नेत्रों के कोए बहुत ही उज्ज्वल हैं। शिवजी के चन्द्र का प्रतिबिंब पाकर कोए और भी उज्ज्वल हो जाते हैं और सुन्दर मालूम होते हैं। घोर गर्जन करके उसी मोर को देवगिरि पर्वत पर तू भी नचाना। क्योंकि मेघ को देखकर मोर प्रसन्न होता है, गर्जन सुनकर नाचने लगता है।

(क)

जा उनके बरही की पखा
गिरि तारे जड़ी-सी कहूँ परती है।
गौरि उठाइ के पूत सनेह सों
कानन कंज सौं लै धरती है।

जासु कोएन की उज्जलता
शिव के शशि सों समता करती है।
ताहि नचाइयो घोर बड़ी करि
माँहि गुफान के जो भरती है॥

(ख)

तेजो-पंक्ती छबिमय, गिरा पिच्छ जिस्का भवानी
धारें कर्णोत्पल सम सदा पुत्र-प्रेमाभिलाषी।
शम्भू-चन्द्र-द्युति-धवल दृक् स्कन्ध का है शिखी वो
तेरी भारी ध्वनि भर गुफा तू नचाना उसी को॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लंघिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतो मूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥४७॥

भगवान् स्कन्द (कार्त्तिकेयजी) की जन्मभूमि सरकण्डों का वन है। उनको पूजकर आगे चले जाना। उनको उस समय पूजने को सिद्ध लोग वीणा लिये स्त्रियों के साथ आते होंगे। वह तुझे देखकर रास्ता छोड़ देंगे क्योंकि जलकण से वीणा कहीं भींग न जायँ ऐसा भय उनको होगा। वहाँ से चलकर चम्बल नदी (चर्मणवती) मिलेगी। यह वह नदी है जो महाराज रन्तिदेव के किये हुए अनेक गोमेधों (गो मेध यज्ञों) से उत्पन्न हुई बताई जाती है। तू उस नदी का आदर करते हुए धीरे-धीरे पार करना क्योंकि नदी के जलरूप में फैली हुई वह रन्ति-देव की कीर्त्ति ही है। (चन्द्रवंश में भरत से छठी पीढ़ी में रन्तिदेव हुए थे। अश्वमेध की तरह उन्होंने अनेक गोमेध यज्ञ किये थे ऐसा महाभारत में बताया गया है। कलियुग में गोमेधों का निषेध है)।

(क)

चलियो घन पूजि कें वा सुर कों
शर कौ बन जासु की जन्म-मही है।
डर बूंदन के मग तेरो तजें
जिन दम्पति सिद्धन बीन गही है।
करि आदर हौले उलांघियो तू
गऊमेधन तें सरिता जो बही है

मनु कीरति श्री रंतिदेव जू की
जलरूप में भूतल फैल रही है ॥

(ख)

आगे जाते दहन-सुत को पूज के मार्ग पा, वो—
छोड़ा वीणा-धर जल-डरे सिद्ध-सिद्धांगना जो।
नम्री होके घन! उतरना पार गो-मेधजा की
है कीर्ती वो भुवि जल-मयी रन्ति-देव-क्रिया की ॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात् प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी—
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥४८॥

चम्बल का विस्तार (पाट) बहुत बड़ा है। परन्तु आकाश में उड़नेवालों को—आकाश से—बहुत दूर होने के कारण—वह चम्बल नदी की धारा बड़ी पतली दिखाई देती है। वहाँ से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी के कण्ठ पर मोतियों का एक हार है। हे मेघ! तूने कृष्ण भगवान् का रंग (श्याम रंग) चुराया है। हे रंग चोर! जब तू उतरकर चम्बल में पानी पियेगा (या उसमें से पानी लेगा) तब ऐसा मालूम होगा कि उस मोतियों के हार में नील-मणि भी आ गई है।

(नोट :—यहाँ वर्णन समाप्त होता है और मेघ को दशपुर (मन्दसौर) को यात्रा कराई जाती है। चम्बल के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि स्वयं कालिदास ने आकाश से नीचे की ओर देखकर वर्णन किया है। शकुन्तला में भी मातलि के रथ से आकाश में जाते दुष्यन्त के मुँह से जो वर्णन कराया है उससे यही मालूम होता है कि आकाश मार्ग में स्वयं उड़कर अनुभव किये गये हैं।)

(क)

बिसतार के माँहि बड़ी सरिता
वह दूरि तें दीखति है पतरी।
हरि रंग के चोर पिए जब तू
जल वा में झुकाइके देह खरी।
लखि लेहिंगे खेचर तोहिं घनें
करि दीठि तुरन्तहि चावभरी।

मनु भूमि की मोतिन माल में एक
बड़ी मणि नीलम आनि धरी ।।

(ख)

धारा उसकी पृथु, पर कृशा दूर से दृष्टि आती
लेगा पानी जब नमित तू कृष्णवर्णापहारी।
देखेंगे सो थकित दृग हो व्योमगामी सुदृश्य
मानों मुक्ता-स्रज धरणि की बीच में नील-रत्न ।।

११—बाणभट्ट और कादम्बरी

श्री माधवाचार्य के "शंकर-दिग्विजय" में लिखा है कि अवन्ति देश के प्रसिद्ध विद्वान् बाण, मयूर और दण्डी को भी श्री शंकराचार्य ने, भट्ट भास्कर के अनन्तर, शास्त्रार्थ में परास्त किया था और अपने भाष्य के सुनने के लिए उत्सुक बना दिया था :—

स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान्
विबुधान् बाण-मयूर-दण्डि-मुख्यान् ।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमाना-
न्निजभाष्य श्रवणोत्सुकांश्चकार ।।

दाक्षिणात्य विद्वानों में आदि गुरु के अनन्तर तत्सदृश माधवाचार्य ही माने जाते हैं। यह सायण के भाई थे। दोनों भाई विजयनगर के बुक्क और हरिहरराय के सभा-पंडित और मंत्री थे। उन दिनों विजयनगर की पुस्तकालय की ख्याति बढ़ी-चढ़ी हुई थी। अतः यह विचार करना ठीक है कि 'शंकर दिग्विजय' प्राचीन ग्रंथों के आधार पर ही लिखी गई होगी और बिना पर्याप्त प्रमाण के बाण, मयूर और दण्डी का एक काल में उज्जयिनी में होना नहीं लिखा गया होगा।

'हर्ष-चरित' के अनुसार बाणभट्ट वात्स्यायन वंश में जनमे थे। उनके पूर्वज सोन नदी के किनारे प्रीतिकूट ग्राम में रहते थे। उनके पिता चित्रभानु थे और माता का नाम राज्यदेवी था। माता का बचपन में ही देहान्त हो गया था। पिता भी चौदह वर्ष की अवस्था में चल बसे थे। इसलिए लालन-पालन भली प्रकार नहीं हुआ था। बचपन में ही बाणभट्ट देशाटन को चल पड़े थे और नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किये थे जिससे बुद्धि-विकास और सांसारिक अनुभव हुआ। इसके अनन्तर महाराज हर्षवर्धन ने उनको बुलाया। पहले तो उनका विशेष सत्कार नहीं हुआ, पर बाद में उनको अपने आश्रय में रख लिया।

'हर्ष-चरित', 'कादम्बरी', 'चंडिकाशतक', 'पार्वती परिणय', 'मुकुट ताड़ित नाटक' ये ग्रन्थ बाण के बताये जाते हैं। हर्ष-चरित और कादम्बरी दोनों अपूर्ण हैं। कादम्बरी को बाणभट्ट के पुत्र भूषण भट्ट या पुलिन भट्ट ने पूर्ण किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य को त्याग कर, वृद्धावस्था में, बाण की रुचि योग या वैराग्य की तरफ हुई होगी और वह अवन्ती में चले आये होंगे।

कादम्बरी गद्य काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। लम्बे-लम्बे समास, कठिन कठिन वाक्य, विशेषणों और अलंकारों की भरमार से कहीं-कहीं जटिलता बढ़ गई है। लालित्य और सरसता होते हुए भी, कथानक बड़ा जटिल है। Weber (वैवर) ने लिखा है कि पृष्ठ-पर-पृष्ठ पढ़ने पर भी एक ही क्रिया (verb) मिलती है परन्तु हर पृष्ठ पर अलंकारिक भाषा, दुरूह समास और विशेषणों की इतनी भरमार है कि यह प्रतीत होता है कि एक ऐसे घने जंगल में चल रहे हैं जहाँ बिना अपने हाथ से जंगल काटे आगे बढ़ना असंभव है और फिर भी इस बात का भय बना रहता है कि आगे कोई अज्ञात भयानक शब्द सहसा न आ जावे। डाक्टर कीथ और काले (M. R. Kale) ने इस आलोचना को सही बतलाया है।

बाणभट्ट को उज्जयिनी से बड़ा प्रेम प्रतीत होता है। कादम्बरी में पृष्ठ-के-पृष्ठ उज्जयिनी की प्रशंसा में लिखे गये हैं जिससे ज्ञात होता है कि इस नगरी में उनका निवास बहुत वर्षों तक रहा था।

कादम्बरी में कथा का प्रारम्भ निम्नलिखित उज्जयिनी वर्णन से होता है जो, बाणभट्ट के काल में, उज्जयिनी नगरी की वास्तविक अवस्था का परिचायक समझना चाहिए।

"अस्ति सकल-त्रिभुवन-ललामभूता, प्रसव-भूमिरिव कृतयुगस्य, आत्म-निवासोचिता भगवता महाकालाभिधानेन भुवनत्रय-सर्ग-स्थिति-संहारकारणेन प्रमथनाथेनापरेव पृथिवी समुत्पादिता, द्वितीय-पृथिवीशंकया च जलनिधिनेव रसातल-गभीरेण जल परिखावलयेन परिवृता"।

(अर्थ:—अवन्ति देश में समस्त भुवनों की प्रधानस्वरूपा अथवा त्रिभुवन की तिलक उज्जयिनी नाम की नगरी है। यह सत्ययुग की प्रसवभूमि अथवा जन्म-भूमि सी है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीनों भुवनों के उत्पन्न, पालन एवं संहार करनेवाले महाकाल नामवाले प्रमथनाथ भगवान् महादेव ने अपने निवास के योग्य दूसरी पृथ्वी का निर्माण किया है। और दूसरी पृथ्वी समझकर ही मानो समुद्र उसके चारों ओर घिर आया है ऐसा नगरी के चारों ओर रसातल के समान गहरे परिखामंडल (जल की खाई) देखकर बोध होता है)।

"पशुपति-निवास-प्रीत्या गगनपरिसरोल्लेखिशिखरमालेन कैलासगिरिणेव सुधासितेन प्राकार-मण्डलेन परिगता, प्रकट-शंख-शुक्ति-मुक्ता-प्रबाल-मरकत-मणिराशिभिश्चामीकर-चूर्णसिकता-निकर-निचितैरायामिभिरगस्त्य परिपीत-सलिलैः सागरैरिव महाविपणिपथैरुपशोभिता, सुरासर-सिद्ध-गन्धर्वविद्याधरोर-गाध्यासिताभिश्चित्रशालाभिरनवरतोत्सवावलोकन-कुतूहलादम्बरतला दवतीर्णा-भिर्दिव्यविमानपंक्तिभिरिवालंकृता।

(अर्थ :—नगरी के चारों ओर शुभ्र वर्ण चूने की ऊँची शहरपनाह हैं। वह ऐसी मालूम होती है मानों पशुपति महादेव के निवास करने की प्रीति देखकर ही आकाश छूती हुई उच्च शिखरमालाओं के सहित कैलाश पर्वत ही उज्जैन में आ गया हो। नगरी के अत्यन्त चौड़े-चौड़े मार्ग, रत्नों से सजे हुए, ऐसे प्रतीत होते हैं मानों अगस्त्य मुनि द्वारा पान किये जल-रहित समुद्र हों जिसमें रत्न ही रत्न रह गये हों। उन मार्गों में चूर्णित सुवर्ण की धूलि बिछी हुई है और शंख, सीप, मौक्तिक, प्रवाल एवं मरकत मणियों के पुंज के पुंज बिक्री के लिए सजे रखे हुए हैं। स्थान-स्थान पर सुर, असुर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और नागों से भूषित चित्रशालाएँ हैं जिनसे ऐसा मालूम होता है कि अनवरत होते महोत्सवों में एकत्रित होती स्त्रियों को देखने के कुतूहल से देवताओं के विमानों की पंक्तियाँ आकाश से उतर आई हों।)

उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त बाण ने लिखा है कि चौमुहानियों पर उज्जयिनी में देव-मन्दिर हैं जिनकी शोभा क्षीरसागर मंथन करने के समय दूध छलकने से शुभ्रवर्ण हुए मन्दराचल के समान है। उनके शिखरों पर सुवर्ण के स्वच्छ कलश स्थापित हैं। उस नगरी की सीमा के निकट की भूमि केवड़े की धूलि से धूसरित हो गई है। वहाँ कुएँ बने हैं। निरन्तर चलित जलघटी यंत्र (रहँटों) से जल खींचकर उपवनों में सिंचाई होती है। प्रत्येक घर में मदन वृक्ष के दण्ड पर मत्स्य के चिह्नवाली ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही हैं और रक्त चामर बँध रहे हैं वहाँ निरन्तर वेदाभ्यास होता रहता है। उस नगरी में सहस्रों सरोवर हैं। उनमें नीलकमल विकसित होने से अतीव सुन्दर लगते हैं। प्रत्येक दिशा में गजदन्त की चन्द्रशालाएँ बनी हुई हैं। वे केलों के घने वन से घिरी हुई हैं और अमृत फेन पुंज के समान शुभ्रवर्ण हैं। नगरी के चारों ओर परिवेष्टित शिप्रा नदी प्रवाहित हो रही है। नगरी में अधिकतर शुभ्र गृह हैं जिनमें खूँटियों पर हस्तिदन्त के सुन्दर चामर लटकते हैं। उज्जयिनी में पर्वतों के समान राजमहल हैं, शाखानगर की तरह भव्य भवन हैं और कल्पवृक्ष के समान सत्पुरुष हैं। प्रत्येक गृह के बाहर के द्वार में सुवर्ण कलश रखे रहते हैं। उज्जयिनी बहुप्रकृति होने पर भी स्थिर है और वह अपनी शोभा से स्वर्ग की शोभा पर विजय प्राप्त करती है। सूर्य उज्जयिनी पर जाते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं मानों ऊँचे राजमहलों के शिखरों पर गान करती स्त्रियों के अत्यन्त मधुर गीत-स्वर से आकृष्ट हुए सूर्य के रथ के अश्वगण नीचे मुख कर चल रहे हैं और मानों सूर्य आते-जाते महाकालेश्वर को प्रणाम करते हों।
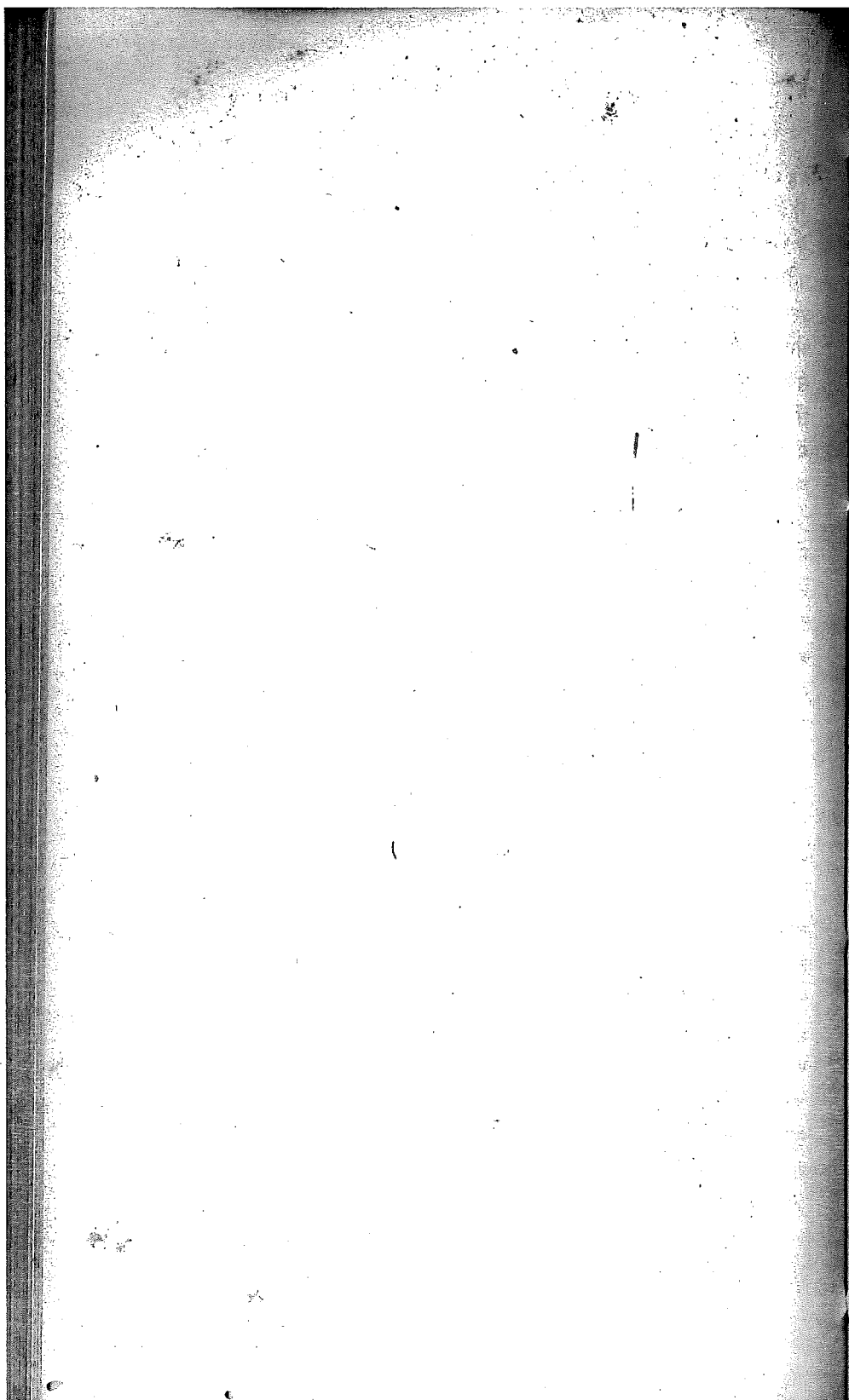
तृतीय भाग
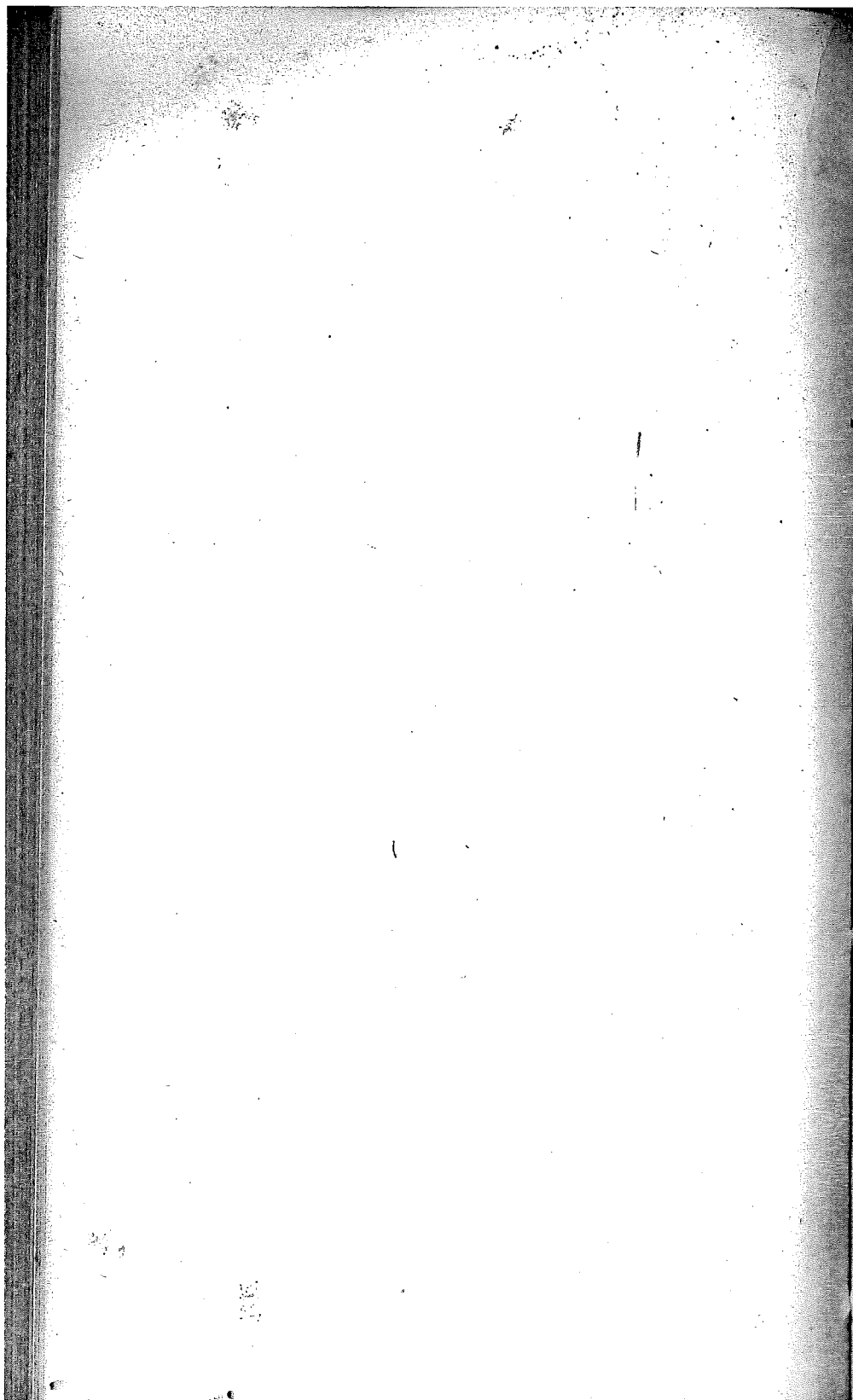
१२—उज्जयिनी से सम्बन्धित महान् व्यक्ति

[उज्जयिनी विद्या की केन्द्र होने पर भी विशेषकर धर्म का केन्द्र बनी रही है। प्रतिभाशाली कवि और सुलेखकों के साथ ही तांत्रिक, कापालिक अथवा शान्ति-प्रिय तत्त्वज्ञानी तथा योगियों की यहाँ कमी नहीं रही। परन्तु इनमें से किसी किसी ने ही लोक-समाज में प्रसिद्धि प्राप्त की। अधिकांश महात्मा तो चुपचाप आध्यात्मिक-जीवन बिताकर चलते बने। ऋषिप्रोक्त धर्म का समस्त अनुष्ठान योग पर प्रतिष्ठित है। योगाभ्यास और लोक-प्रसिद्धि दो विरोधी बातें हैं। इसी लिए जिन महापुरुषों ने उज्जयिनी में रहकर यहाँ आध्यात्मिक जीवन और योगाभ्यास वर्षों किया और जो भारतवर्ष के रत्न रहे होंगे उनके जीवन-चरित्र से तो क्या, उनके नाम से भी हम परिचित नहीं हो पाय। इसके अतिरिक्त, बहुत से काव्यकारों और शास्त्रकारों ने अपने जन्म-स्थान और अपने समय का संकेत तक नहीं किया। सम्भव है उस समय के भारतवर्ष में ऐसी परिपाटी ही प्रचलित हो। सम्भव है समूचे भारतवर्ष को ही जन्मस्थान मानने का राष्ट्रीय लक्ष्य सम्मुख रहा हो। सम्भव है जन्मस्थान से प्रान्तीयता और स्थानीय भावना बढ़ जाने के कारण उनको त्याज्य समझा गया हो। उत्तर में कैलाश, दक्षिण में सेतुबन्ध और मध्य में उज्जयिनी में महाशिव का स्थान बताने का एकमात्र उद्देश्य सारे भारत को एक ही सूत्र में ग्रथित करने का होगा। आदि गुरु शंकर के स्थान-स्थान पर मठ स्थापित करने का हेतु सिवाय इसके और क्या हो सकता था? अगर यह लक्ष्य नहीं था तो दूसरा कोई कारण ज्ञात नहीं होता कि वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, गुणाढ्य, वररुचि, पाणिनि, पतञ्जलि इत्यादि विद्वान् अपना जन्म-स्थान और समय का संकेत तक क्यों नहीं करते! जो कुछ भी हो, इन कारणों से यह कहना कठिन हो जाता है कि भारतवर्ष के प्रमुख प्राचीन रत्नों में कितने वास्तव में उज्जैन के थे। ऐसी अवस्था में अधिकतर किंवदन्तियों और प्राचीन कथाओं का आधार ही लेना पड़ता है। इस आधार पर विक्रम के नवरत्नों के अतिरिक्त कुछ महापुरुषों के नाम उज्जैन से सम्बन्धित मिल पाये हैं उनका संक्षिप्त जीवन-चरित्र हमने यहाँ संकलित करने का प्रयास किया है। फिर भी बहुत से नाम रह गये हैं, यह भी हमें ज्ञात है। पुस्तकों के अभाव में और अधिक समय न मिलने के कारण अधिक महापुरुषों के जीवन-चरित्र एवं उनके रचनात्मक कार्य की सूची हम यहाँ संकलित नहीं कर पाये, इसका अवश्य

खेद है। जो प्रमाण हमने कहीं-कहीं उद्धृत किये हैं उनका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।]

(१) श्री सान्दीपन मुनि

सान्दीपन मुनि भगवान् कृष्ण और बलराम के गुरु माने जाते हैं। 'सन्दीपन' के पुत्र सान्दीपन थे। जो उज्ज्वल करता है वह 'सन्दीपन' कहाता है (संदीपयति सः सन्दीपनः)। पुराणों में श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा अवन्तीपुर (उज्जैन) में सान्दीपन मुनि के द्वारा बताई गई है। परन्तु शिक्षा के विषय और वर्णन में कहीं-कहीं भेद है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि वसुदेवजी ने अपने पुरोहित गर्गाचार्य तथा अन्य ब्राह्मणों से दोनों पुत्रों का विधिपूर्वक द्विजाति-समुचित यज्ञोपवीत संस्कार करवाया। इसके बाद गुरुकुल में निवास करने की इच्छा से दोनों भाई अवन्ती (उज्जैन) में रहनेवाले कश्यपगोत्री या काशी से आये हुए (काश्यं) सान्दीपन नामक आचार्य के पास गये। वे विधिपूर्वक गुरुजी के पास रहने लगे। उस समय वे बड़े ही सुसंयत और अपनी चेष्टाओं को सर्वथा नियमित रखे हुए थे। गुरु-सेवा का उच्च आदर्श लोगों के सामने रखते हुए बड़ी भक्ति से उन्होंने इष्टदेव के समान गुरुजी की सेवा की। गुरुवर सान्दीपनजी उनकी शुद्ध भावयुक्त सेवा से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों भाइयों को छहों अंग और उपनिषदों के सहित सम्पूर्ण वेदों की शिक्षा दी। इसके सिवा मंत्र और देवताओं के ज्ञान के साथ धनुर्वेद, धर्म-शास्त्र, मीमांसा और न्याय-शास्त्र की भी शिक्षा दी। साथ ही सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छः भेदों से युक्त राजनीति का भी अध्ययन कराया। भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओं के प्रवर्तक हैं। परन्तु मनुष्य का व्यवहार करते हुए वे अध्ययन कर रहे थे। केवल चौंसठ दिन-रात में ही संयमी-शिरोमणि दोनों भाइयों ने चौसठों कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार अध्ययन समाप्त होने पर उन्होंने सान्दीपन मुनि से प्रार्थना की कि "आपकी जो इच्छा हो, गुरु-दक्षिणा माँग लें।"

सान्दीपन मुनि ने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धि का अनुभव कर लिया था। इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी से सलाह करके यह गुरु-दक्षिणा माँगी कि 'प्रभास-क्षेत्र में हमारा बालक समुद्र में डूबकर मर गया था, उसे तुम लोग ला दो।' बलरामजी और श्रीकृष्ण का पराक्रम अनन्त था। दोनों ही महारथी थे। उन्होंने "बहुत अच्छा" कहकर गुरुजी की आज्ञा स्वीकार की और रथ पर सवार होकर प्रभास-क्षेत्र में गये। समुद्र के अन्दर जाकर शंखासुर

(पाञ्चजन्य) नामी असुर को मारा और पाञ्चजन्य शंख को लेकर यमराज के यहाँ जाकर गुरुपुत्र लाकर सान्दीपनजी को गुरु-दक्षिणा में दिया। तदनन्तर गुरुजी से आज्ञा और आशीर्वाद लेकर वायु के समान वेग और मेघ के समान रथ पर सवार होकर दोनों भाई मथुरा लौट आये।

उज्जैन में इस शिक्षा का स्मारक सान्दीपन-आश्रम किसी न किसी रूप में अभी तक मौजूद है; और भगवान् कृष्ण की यह शिक्षास्थली क्षिप्रा नदी के किनारे "अंकपात" के नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रह्मपुराण के १९४वें अध्याय में श्रीभागवत् का ही अनुकरण करके कथा में लिखा गया है कि:—

विदिताखिलविज्ञानौ सर्वज्ञानमयावपि।
शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तौ यदूत्तमौ ॥१८॥
ततः सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम्।
अस्त्रार्थं जग्मतुर्वीरौ बलदेवजनार्दनौ ॥१९॥
तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हि तौ।
दर्शयाञ्चक्रतुर्वीरावाचारमखिले जने ॥२०॥
सरहस्यं धनुर्वेदं ससंग्रहमधीयताम्।
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या तदद्भुतमभूद् द्विजाः ॥२१॥

यहाँ 'काश्यप' न लिखा जाकर 'काश्यं' लिखा गया है। सम्भव है सान्दीपनजी 'काशी' से उठकर अवन्ती में बस गये हों। किसी किसी प्रति में 'शिक्षार्थं', किसी किसी में "शस्त्रार्थं" भी मिलता है परन्तु अधिकतर प्रतियों में "अस्त्रार्थं" बताया जाता है। इसी लिए 'आनन्दाश्रम एडीशन' १८९५ में 'अस्त्रार्थं' ही लिखा है।

अग्निपुराण में एक सूक्ष्म संकेत मिलता है और वहाँ उज्जयिनी में शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख नहीं है। बस, इतना ही लिखा है कि:—

सान्दीपनेश्च शस्त्रास्त्रं ज्ञात्वा तद्बालकं ददौ ॥ (अध्याय १३)

ब्रह्मवैवर्तपुराण में सान्दीपनजी को "ब्रह्मांशो योगिनां ज्ञानिनां गुरुः" लिखा है। यज्ञोपवीत कुलपुरोहित गर्गजी ने कराया था परन्तु इस पुराण में लिखा है कि बहुत से देवता और ब्राह्मण उपस्थित थे और सान्दीपनजी भी वहीं थे। बाद में कृष्ण भगवान् उज्जैन गये और चारों वेदों को एक मास में ही पढ़ लिया। गुरु-दक्षिणा में गुरुपुत्र को देने के अनन्तर भगवान् कृष्ण ने अपने गुरु और गुरुपत्नी को कई लाख रत्न, मणि, हीरा, मुक्ता, माणिक्य दिये और वस्त्र, हार, अँगूठी और सुवर्ण से उनका घर भर दिया। थोड़े काल के

खेद है। जो प्रमाण हमने कहीं-कहीं उद्धृत किये हैं उनका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।]

(१) श्री सान्दीपन मुनि

सान्दीपन मुनि भगवान् कृष्ण और बलराम के गुरु माने जाते हैं। 'सन्दीपन' के पुत्र सान्दीपन थे। जो उज्ज्वल करता है वह 'सन्दीपन' कहाता है (संदीपयति सः सन्दीपनः)। पुराणों में श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा अवन्तीपुर (उज्जैन) में सान्दीपन मुनि के द्वारा बताई गई है। परन्तु शिक्षा के विषय और वर्णन में कहीं-कहीं भेद है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि वसुदेवजी ने अपने पुरोहित गर्गाचार्य तथा अन्य ब्राह्मणों से दोनों पुत्रों का विधिपूर्वक द्विजाति-समुचित यज्ञोपवीत संस्कार करवाया। इसके बाद गुरुकुल में निवास करने की इच्छा से दोनों भाई अवन्ती (उज्जैन) में रहनेवाले कश्यपगोत्री या काशी से आये हुए (काश्यं) सान्दीपन नामक आचार्य के पास गये। वे विधिपूर्वक गुरुजी के पास रहने लगे। उस समय वे बड़े ही सुसंयत और अपनी चेष्टाओं को सर्वथा नियमित रखे हुए थे। गुरु-सेवा का उच्च आदर्श लोगों के सामने रखते हुए बड़ी भक्ति से उन्होंने इष्टदेव के समान गुरुजी की सेवा की। गुरुवर सान्दीपनजी उनकी शुद्ध भावयुक्त सेवा से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों भाइयों को छहों अंग और उपनिषदों के सहित सम्पूर्ण वेदों की शिक्षा दी। इसके सिवा मंत्र और देवताओं के ज्ञान के साथ धनुर्वेद, धर्म-शास्त्र, मीमांसा और न्याय-शास्त्र की भी शिक्षा दी। साथ ही सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छः भेदों से युक्त राजनीति का भी अध्ययन कराया। भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओं के प्रवर्तक हैं। परन्तु मनुष्य का व्यवहार करते हुए वे अध्ययन कर रहे थे। केवल चौंसठ दिन-रात में ही संयमी-शिरोमणि दोनों भाइयों ने चौसठों कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार अध्ययन समाप्त होने पर उन्होंने सान्दीपन मुनि से प्रार्थना की कि "आपकी जो इच्छा हो, गुरु-दक्षिणा माँग लें।"

सान्दीपन मुनि ने उनकी अद्‌भुत महिमा और अलौकिक बुद्धि का अनुभव कर लिया था। इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी से सलाह करके यह गुरु-दक्षिणा माँगी कि 'प्रभास-क्षेत्र में हमारा बालक समुद्र में डूबकर मर गया था, उसे तुम लोग ला दो।' बलरामजी और श्रीकृष्ण का पराक्रम अनन्त था। दोनों ही महारथी थे। उन्होंने "बहुत अच्छा" कहकर गुरुजी की आज्ञा स्वीकार की और रथ पर सवार होकर प्रभास-क्षेत्र में गये। समुद्र के अन्दर जाकर शंखासुर

(पाञ्चजन्य) नामी असुर को मारा और पाञ्चजन्य शंख को लेकर यमराज के यहाँ जाकर गुरुपुत्र लाकर सान्दीपनजी को गुरु-दक्षिणा में दिया। तदनन्तर गुरुजी से आज्ञा और आशीर्वाद लेकर वायु के समान वेग और मेघ के समान रथ पर सवार होकर दोनों भाई मथुरा लौट आये।

उज्जैन में इस शिक्षा का स्मारक सान्दीपन-आश्रम किसी न किसी रूप में अभी तक मौजूद है; और भगवान् कृष्ण की यह शिक्षास्थली क्षिप्रा नदी के किनारे "अंकपात" के नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रह्मपुराण के १९४वें अध्याय में श्रीभागवत् का ही अनुकरण करके कथा में लिखा गया है कि:—

विदिताखिलविज्ञानौ सर्वज्ञानमयावपि।
शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तौ यदूत्तमौ ॥१८॥
ततः सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम्।
अस्त्रार्थं जग्मतुर्वीरौ बलदेवजनार्दनौ ॥१९॥
तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हि तौ।
दर्शयाञ्चक्रतुर्वीरावाचारमखिले जने ॥२०॥
सरहस्यं धनुर्वेदं ससंग्रहमधीयताम्।
अहोरात्रैश्चतुःषष्टचा तदद्भूतमभूद् द्विजाः ॥२१॥

यहाँ 'काश्यप' न लिखा जाकर 'काश्यं' लिखा गया है। सम्भव है सान्दीपनजी 'काशी' से उठकर अवन्ती में बस गये हों। किसी किसी प्रति में 'शिक्षार्थं', किसी किसी में "शस्त्रार्थं" भी मिलता है परन्तु अधिकतर प्रतियों में "अस्त्रार्थं" बताया जाता है। इसी लिए 'आनन्दाश्रम एडीशन' १८९५ में 'अस्त्रार्थं' ही लिखा है।

अग्निपुराण में एक सूक्ष्म संकेत मिलता है और वहाँ उज्जयिनी में शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख नहीं है। बस, इतना ही लिखा है कि:—

सान्दीपनेश्च शस्त्रास्त्रं ज्ञात्वा तद्बालकं ददौ ॥ (अध्याय १३)

ब्रह्मवैवर्तपुराण में सान्दीपनजी को "ब्रह्मांशो योगिनां ज्ञानिनां गुरुः" लिखा है। यज्ञोपवीत कुलपुरोहित गर्गजी ने कराया था परन्तु इस पुराण में लिखा है कि बहुत से देवता और ब्राह्मण उपस्थित थे और सान्दीपनजी भी वहीं थे। बाद में कृष्ण भगवान् उज्जैन गये और चारों वेदों को एक मास में ही पढ़ लिया। गुरु-दक्षिणा में गुरुपुत्र को देने के अनन्तर भगवान् कृष्ण ने अपने गुरु और गुरुपत्नी को कई लाख रत्न, मणि, हीरा, मुक्ता, माणिक्य दिये और वस्त्र, हार, अँगूठी और सुवर्ण से उनका घर भर दिया। थोड़े काल के

अनन्तर, सारी सम्पत्ति अपने पुत्र को देकर सान्दीपनजी और उनकी पत्नी ने गोलोक को प्रयाण किया।

अवन्ती को 'सान्दीपन के आश्रम' ने एक ऐसा ऊँचा स्थान प्रदान किया है कि जो शिक्षा और साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

(२) गुणाढ्य

किंवदन्ती है कि गुणाढ्य उज्जैन के राजा थे। परन्तु किसी प्रकाशित ग्रंथ में इसके समर्थन में प्रमाण नहीं मिले। 'रामायण' और 'महाभारत' के बाद, भारतीय साहित्यिक कला का अखण्ड भंडार गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में पाया जाता है।

क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' सोमदेव का 'कथासरित्सागर' और जयरथ के 'हरचरितचिन्तामणि' गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के ही दूसरे रूप हैं। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' पैशाची भाषा में लिखी गई बताई जाती है और आजकल अप्राप्य है।

सुबन्धु, बाणभट्ट और दण्डी ने, सातवीं शताब्दी में, 'बृहत्कथा' के महत्त्व को स्वीकृत किया है। धनञ्जय के 'दशरूपक', त्रिविक्रम के 'चम्पू', सोमदेव सूरी के 'यशस्तिलक' और गोवर्द्धन के 'सप्तशती' में भी 'बृहत्कथा' की प्रशंसा की गई है। कम्बोडिया के एक शिलालेख में गुणाढ्य और प्राकृत भाषा के प्रति उनकी घृणा का उल्लेख किया गया है।

'कथासरित्सागर' के अनुसार जब महादेवजी ने अपने गण पुष्पदन्त को शाप दिया तो दूसरा गण माल्यवन्त इस शाप का विरोध करने लगा। महादेवजी ने माल्यवन्त को भी यह शाप दिया कि वह भी मृत्युलोक में जन्म ले और यक्ष काणभूति से कथा सुन लेने पर शाप से मुक्त होने का अधिकारी हो सकेगा। गण पुष्पदन्त ने वररुचि होकर कौशाम्बी में जन्म लिया और बाद में महाराज नन्द का मंत्री होकर वैराग्य लिया और विद्याधरों के सात राजाओं की कथा काणभूति को सुनाकर मोक्ष प्राप्त की।

गण माल्यवन्त ने गोदावरी के किनारे प्रतिष्ठान नगर में 'गुणाढ्य' नाम से जन्म लिया और फिर सातवाहन राजा के यहाँ ऊँचा पद प्राप्त किया। राजा की पटरानी ने एक बार जलक्रीड़ा के समय कहा कि "जल से अब ताड़न मत करो" (मा उदकैः परिताड़य)। राजा संस्कृत कम पढ़े थे समझे कि पटरानी "मोदक" (लड्डू) मँगा रही है। उसी क्षण बहुत से मोदक मँगवा लिये जिस पर रानियाँ हँसने लगीं। राजा अत्यन्त लज्जित हुए और संस्कृत पढ़ने का प्रयत्न करने लगे। गुणाढ्य से पूछने पर गुणाढ्य ने पूरे

छः साल में व्याकरण शास्त्र पढ़ाने को कहा। शर्ववर्मा ने कहा कि "मैं छः मास में ही पढ़ा दूंगा। गुणाढ्य ने राजा से कहा कि "यह असम्भव बात है। अगर छः मास में व्याकरण शास्त्र सीख गये तो मैं संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा तीनों का परित्याग कर दूंगा।"

श्रीकार्तिकेय की तपस्या करके शर्ववर्मा ने पूरा व्याकरण शास्त्र केवल छः महीनों में ही राजा सातवाहन को सिखा दिया। सातवाहन ने प्रसन्न होकर शर्ववर्मा को भृगुकच्छ का स्वामी बना दिया। यह व्याकरण कातंत्र नाम से प्रसिद्ध है।

गुणाढ्य को यह सब बुरा लगा और उसने वहाँ रहकर अपमानित न होना चाहा। वह विंध्यवासिनी देवी के दर्शन को चल पड़ा और वहाँ पैशाची भाषा सीखकर मौनव्रत तोड़ा।

फिर उज्जयिनी से वापिस आने पर यक्ष काणभूति ने गुणाढ्य को सात कथावाली वह दिव्य महाकथा सुनाई। गुणाढ्य ने भी सात वर्ष में उसी पैशाची भाषा में उस कथा को सात लाख श्लोकों में बनाकर प्रस्तुत किया और स्याही न मिलने पर अपने रुधिर से ही लिख डाला। उस कथा के सुनने के लिए सिद्ध और विद्याधर आने लगे और भीड़ इतनी एकत्रित होती थी कि आकाश घिर जाता था। अपने शिष्य गुणदेव और नन्दिदेव के कहने पर यह कथा गुणाढ्य ने सातवाहन राजा को भिजवाई परन्तु उसने नीरस पैशाची भाषा एवं रक्त में होने से वापिस कर दी।

तब निराश होकर एक पर्वत की शिखा पर बैठकर एक अग्निकुण्ड बनवाया और वहाँ बैठकर लाखों पशु-पक्षीगण को सुना-सुनाकर एक-एक पत्र आग में डालने लगे। हजारों-लाखों हरिण, वराह और महिष एकत्र हो, मण्डल बाँध, उस दिव्य महाकथा को सुना करते थे। राजा सातवाहन को यह सब पता लगने पर वह आये और दिव्य कथा माँगने लगे। परन्तु छः लाख श्लोक जल चुके थे; बाकी एक लाख श्लोक राजा को देकर गुणाढ्य शाप से मुक्त हो दिव्यगति को प्राप्त हुए।

'नैपालमाहात्म्य' में शिव-पार्वती के शाप से 'भृंगिन' का मृत्युलोक में आकर 'गुणाढ्य' के नाम से जन्म लेना और उज्जैन के राजा मदन के यहाँ पंडित बनकर शर्ववर्मन् से परास्त होकर, ऋषि पुलस्त्य के आदेशानुसार पैशाची भाषा में कथा लिखना बतलाया गया है।

'बृहत्कथा' और इसके आधार पर बने अन्य कथा-संग्रह में महाराज चण्ड-प्रद्योत, उनकी कन्या वासवदत्ता और वत्सराज उदयन और उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त की कथाएँ ही हैं और इन कथाओं का सम्बन्ध उज्जैन से

ही है। भास की स्वप्नवासवदत्ता, हर्ष की रत्नावली आदि का आधार 'बृहत्कथा' में वर्णित उज्जैन में बीते हुए प्रेम-परिणय की कथाओं से ही है।

इससे सिद्ध है कि गुणाढच बहुत वर्षों तक उज्जयिनी नगरी में रहे थे।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है कि देश के विभिन्न भागों में विभिन्न भाषाओं का आधिपत्य था, यथा गौड़ देश में संस्कृत बोली जाती थी; लाट देश में प्राकृत का प्रेम था; मारवाड़, टक्क देश और भादानक अपभ्रंश बोलते थे। अवन्ती, परियात्रा और दशपुर में भूतभाषा प्रयुक्त होती थी और मध्यदेशवाले सब भाषाओं को जानते थे। यथा—

आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥

अवन्ती के पंडित होने के कारण गुणाढच का भूतभाषा में 'बृहत्कथा' लिखना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

भूतभाषा क्लिष्ट होती हो, यह बात नहीं है। 'बालरामायण' में राजशेखर ने लिखा है कि प्राकृत भाषा प्रकृत्या मधुर है: अपभ्रंश भव्य भाषा है; और भूतभाषा सरस वचनों से भरी है:—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुरः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम्॥

अवन्ती की सरस भूतभाषा में पंडित गुणाढच ने बृहत्कथा अवन्ती में ही लिखी थी, ऐसा ही सत्य प्रतीत होता है।

(३) भर्तृहरि

उज्जैन में भर्तृहरि की गुफा एक प्रसिद्ध स्थान है। किंवदन्ती है और 'प्रबन्धचिन्तामणि' में भी लिखा है कि भर्तृहरि विक्रमादित्य के भाई थे। यह भी कहा जाता है कि गन्धर्वसेन ने ईसवी सन् पूर्व ७२ में मालवान का लोकसत्तात्मक राज्य उज्जैन में स्थापित करके भर्तृहरि को गणाधिपति बना दिया था और १२ साल राज्यशासन करके अपने छोटे भाई विक्रमादित्य को राज्य देकर भर्तृहरि ने वैराग्य धारण कर लिया था। गन्धर्वसेन के दो स्त्री बताई जाती हैं। धीमति से भर्तृहरि और श्रीमति से विक्रम उत्पन्न हुए। भर्तृहरि के शृंगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक प्रसिद्ध हैं। संस्कृत छन्दों में ऐसी मधुर रचना अन्यत्र कम पाई जाती है। इन शतकों में कुछ छंद तंत्राख्यायिका, शकुन्तला और मुद्राराक्षस इत्यादि के भी हैं परन्तु इन तीन शतकों का संकलन एक समय में ही हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है। एक एक श्लोक में शृंगार, नीति अथवा वैराग्य की अनमोल बातों का सुन्दर रूप में समावेश है।
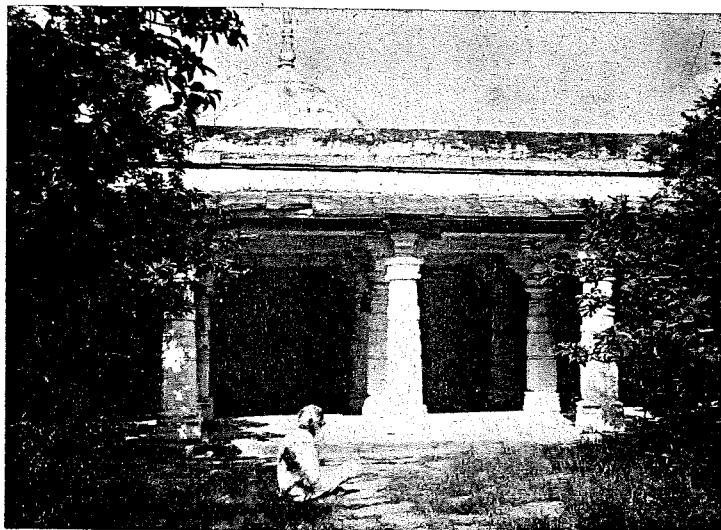
बिना नींव की मस्जिद
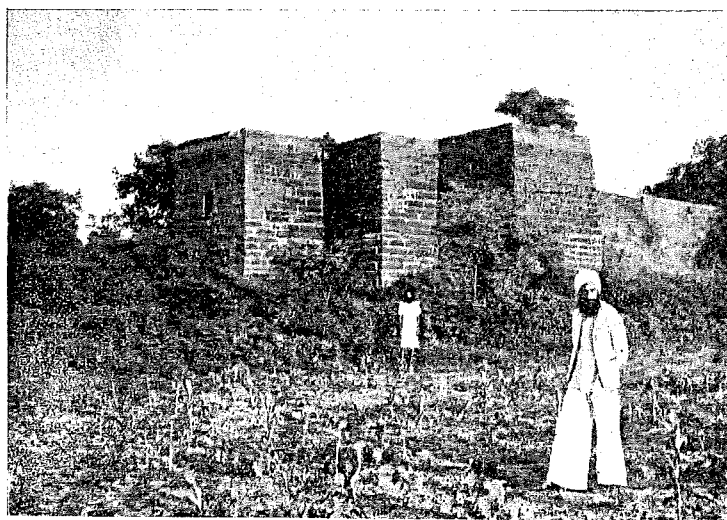
भर्तृहरि की गुफा
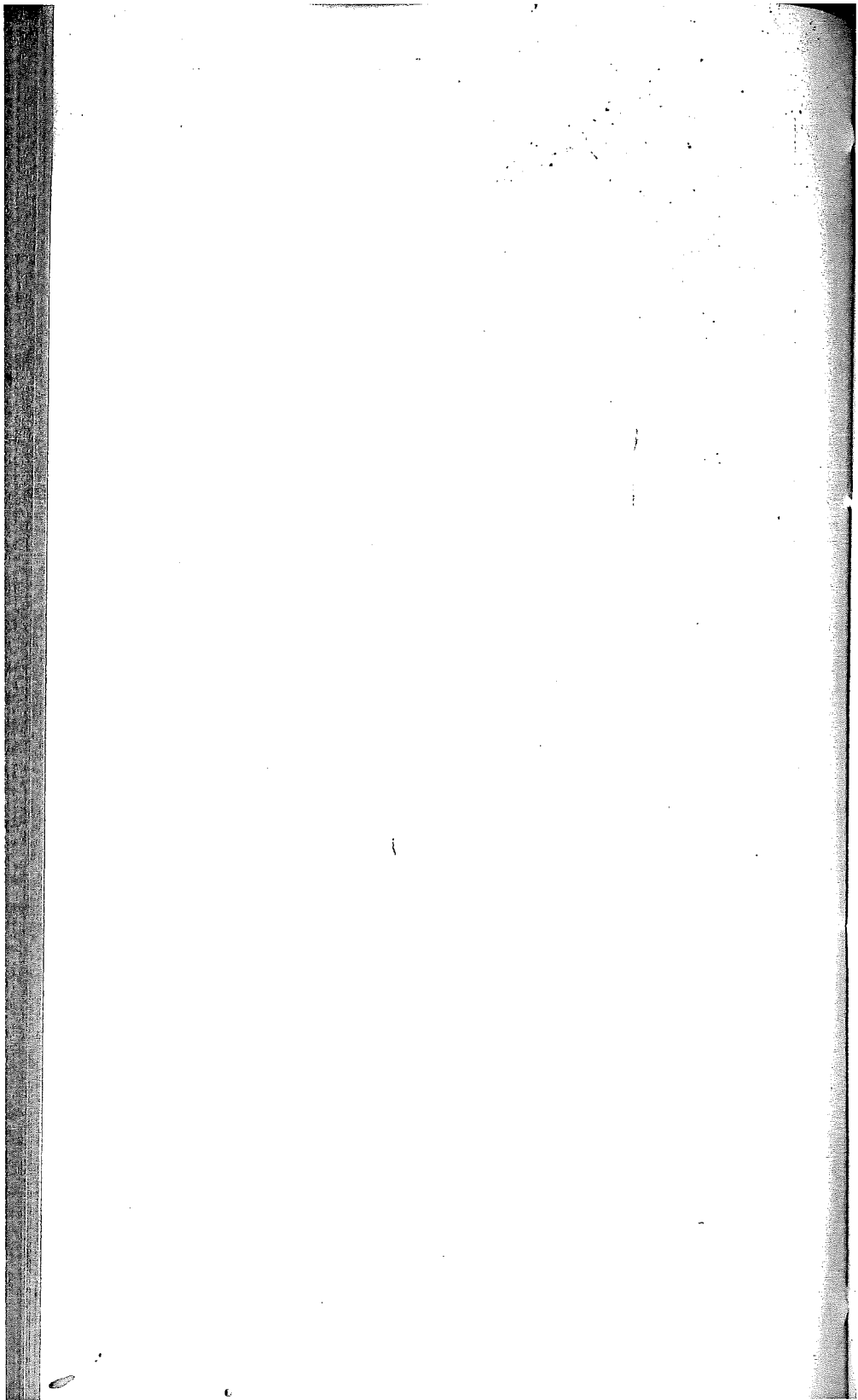
भर्तृहरि का शार्दूलविक्रीड़ित छन्द प्रसिद्ध है। बुलहेन (Bohlen) के संग्रह में १०१ पद्य शार्दूलविक्रीड़ित छन्दों में हैं। उसके अनन्तर शिखरिणी की संख्या ४८, श्लोक ३७, वसन्ततिलका ३५, स्रग्धरा और आर्या प्रत्येक १८ और गीति आर्या का २ बार प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं इन्द्रवज्रा, मालिनी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित वंशस्थ, शालिनी, रथोद्धता, वैतालीय, दोधक, पुष्पिताग्रा और मात्रसमक छन्दों का भी प्रयोग है।

इनसे प्रतीत होता है कि भर्तृहरि एक बहुत भारी कवि और अनुभवी विद्वान् थे। विद्वानों का मत है कि इनकी रचना का काल प्रथम शताब्दी या इसके पूर्व होना चाहिए।

चीनी यात्री ईत्सिंग ने अपनी यात्रा में 'भर्तृहरिशास्त्र' का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह शास्त्र महाभाष्य की टीका है। इसमें २५,००० श्लोक हैं और मानव-जीवन तथा व्याकरण शास्त्र के नियमों का पूर्ण रूप से वर्णन है। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'त्रिपदी' है। इसमें पतंजलि के 'महाभाष्य' के प्रथम तीन पादों की ही विस्तृत व्याख्या है। इसके कुछ भाग का एक पुराना लिखित ग्रंथ बर्लिन के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

ईत्सिंग ने भर्तृहरि के विषय में लिखा है कि यह विद्वान् भारत के पाँचों खंडों में सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध था और उसकी विशिष्टताओं को लोग आठों दिशाओं में जानते थे। उसका रत्नत्रय में अगाध विश्वास था और वह 'दुहरे शून्य' का बड़ी धुन से ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्म के आलिंगन की इच्छा से वह परिव्राजक हो गया; परन्तु सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थी में लौट गया। इसी रीति से वह सात बार परिव्राजक बना और सात ही बार फिर गृहस्थी में लौट गया। वह धर्मपाल का समकालीन था। एक बार जब वह मठ में परिव्राजक था, सांसारिक कामनाओं से तंग आकर उसकी रुचि गृहस्थी में लौट जाने की हुई। परन्तु वह दृढ़ रहा और उसने एक विद्यार्थी को मठ के बाहर एक रथ लाने को कहा। कारण पूछने पर बताया कि "मनोराग प्रबल हो चुका है और मैं सर्वोत्तम धर्म पर चलने में असमर्थ हूँ। मेरे जैसे मनुष्य को परिव्राजकों की सभा में घुसना नहीं चाहिए।" इसके बाद वह उपासक की अवस्था में वापस चला गया और मठ में रहते हुए, एक श्वेत वस्त्र पहनकर सच्चे धर्म की उन्नति और वृद्धि करता रहा।

ईत्सिंग ने लिखा है कि उसकी मत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं। इस हिसाब से भर्तृहरि की मृत्यु सन् ६५१-६५२ ई० में हुई थी।

प्रश्न यह होता है कि कवि भर्तृहरि और वैयाकरण भर्तृहरि एक ही थे या अलग अलग? बंगाल रॉयल एशियाटिक सोसायटी जनरल की अठारहवीं जिल्द

में श्रीयुत् पाठक ने और अक्टूबर १९३६ के अन्नमलाई विश्वविद्यालय के जनरल में श्रीयुत् रामस्वामी शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'त्रिपदी' का लेखक भर्तृहरि बौद्ध था।

इसके विरुद्ध, शतकों के अध्ययन से भर्तृहरि कवि, वेदान्ती शैव प्रतीत होते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि भर्तृहरि को राज-दरबार का अच्छा अनुभव था: या तो वे स्वयं राजा रह चुके थे अथवा वे राजमंत्री थे। 'वैराग्यशतक' के समय वे संन्यास ले चुके थे। 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में डाक्टर कीथ ने यह भी शंका की है कि भर्तृहरि बौद्ध हो गये हों और बाद में फिर शैव धर्म में आ गये हों परन्तु यह समझ में नहीं आता कि भर्तृहरि के शतक इतने प्रसिद्ध होते हुए भी ईत्सिग ने उनका जिकर क्यों नहीं किया? डाक्टर कीथ का उत्तर यह है कि या तो ईत्सिग को शतकों का पता ही नहीं चला या बौद्ध धर्म की वस्तु न होने के कारण उसने इसका जिकर करना ही व्यर्थ समझा।

ईत्सिग ने भर्तृहरि की दूसरी रचना 'वाक्य-पदीय' का जिकर करते लिखा है कि इसमें ७०० श्लोक हैं और इसका टीका भाग ७०००० श्लोकों का है यह पवित्र शिक्षा के प्रमाण द्वारा समर्थित अनुमान और व्याप्ति निश्चय की युक्तियों पर एक प्रबन्ध है। डाक्टर कीथ ने "वाक्य-पदीय" को भारतीय व्याकरण शास्त्र का अन्तिम स्वतंत्र ग्रंथ बतलाया है। (the last indep endent Contribution to Indian Grammatical Science.

भर्तृहरि की तीसरी रचना ईत्सिग ने 'पे-इन' बतलाई है। इसमें तीन हजार श्लोक हैं और १४,००० श्लोकों में टीकाभाग है। श्लोकभाग भर्तृहरि की रचना है और टीकाभाग धर्मपाल का बताया है। ईत्सिग ने लिखा है कि यह पुस्तक आकाश और पृथ्वी के गंभीर रहस्यों की थाह लेती है और इसमें मानवी नियमों के तात्विक सौन्दर्य का वर्णन है। जो मनुष्य यह पढ़ लेता है वह व्याकरण शास्त्र का पूर्ण पंडित कहा जाता है।

श्रीयुत् पं० भगवद्दत्तजी ने 'पे-इन' को 'बेड़ा-वृत्ति' बतलाया है और सरस्वती सीरीज में छपी "ईत्सिग की भारत-यात्रा" में लिखा है कि इस पर काश्मीरी पंडित हेलाराज की वृहत् टीका है मगर धर्मपाल की टीका अभी तक नहीं मिली।

ईत्सिग ने अन्तिम समय के बौद्ध धर्म के पंडितों में धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ और जिनप्रभ का नाम आदर और श्रद्धा के साथ लिया है।

हुएनचांग की भारत-यात्रा में नालन्द विश्वविद्यालय के प्रमुख अध्यापकों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र और शीलभद्र के नाम आते हैं। हुएनचांग के समय में शीलभद्र जीवित थे।

धर्मपाल के शिष्य थे। कहा जाता है कि धर्मपाल का ६०० ई० के पूर्व देहान्त हो चुका था। हुएनचांग के वर्णन से पता चलता है कि धर्मपाल का परिपक्व वृद्धावस्था में शरीरान्त हुआ था।

ईत्सिग के अनुसार, भर्तृहरि के 'पे-इ[illegible]क' श्लोकों की टीका धर्मपाल ने की थी। इससे भर्तृहरि का धर्मपाल के बहुत पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। यदि धर्मपाल भर्तृहरि के समकालीन होते तो यह सम्भव न था कि हुएनचांग जिकर न करता। कुछ जैन ग्रंथों में भर्तृहरि को दिगम्बरों के प्रसिद्ध आचार्य शुभचन्द्र का भ्राता बताया है और शुभचन्द्र को भी विक्रम का सम्बन्धी बताया है।

(४) महारासायनिक व्याड़ि

'कथासरित्सागर' के अनुसार महाराज विक्रमादित्य के समय में एक बड़ा रसायनशास्त्रज्ञ व्याड़ि, उज्जैन नगर में रहता था। अलबेरूनी ने अपनी प्रसिद्ध यात्रा में इस व्याड़ि रासायनज्ञ की जीवनी की चर्चा की है। व्याड़ि ने 'भेषज-संस्कार' ग्रंथ लिखा था परन्तु आर्थिक अवस्था के कारण उसे निराशा हुई और नदी में फेंक दिया। वहाँ से एक वेश्या ने उठा लिया और व्याड़ि की कल्पनासिद्धि के लिए उसे बहुत-सा रुपया दिया जिसके द्वारा बहुत-सी औषधियाँ तैयार हो पाईं। अलबेरूनी ने लिखा है कि एक क्वाथ ऐसा तैयार किया गया था कि शरीर पर मल लेने पर व्याड़ि और उसकी स्त्री दोनों वायु में उड़ने लगते थे। यह हाल विक्रमादित्य ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। अलबेरूनी के समय यह विश्वास किया जाता था कि व्याड़ि और उसकी स्त्री दोनों जीवित हैं।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि शास्त्रकारों की परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी और पाणिनि, पिंगल, व्याड़ि, वररुचि और पतञ्जलि ने पाटलिपुत्र में ही परीक्षा दी थी। व्याड़ि का 'संग्रह' प्रसिद्ध है और महर्षि पतञ्जलि और भर्तृहरि ने इस संग्रह से कई उद्धरण दिये हैं। नागेश ने 'उद्योत' में ('महाभाष्य' पर 'कैयट' की समालोचना पर अपनी आलोचना में) व्याड़ि के विषय में लिखा है कि व्याड़ि के 'संग्रह' के एक लाख श्लोक प्रसिद्ध हैं। सम्भव है कि साहित्यिक व्याड़ि और वैज्ञानिक व्याड़ि एक ही हों। व्याड़ि के 'उत्पलिनी' नामक कोषग्रंथ से भी उद्धरण कहीं कहीं मिलते हैं।

'शब्दकल्पद्रुम' में व्याड़ि को कोषकार बताया गया है। 'रसरत्नसमुच्चय' में व्याड़ि को रसविद्या का आचार्य बताया गया है। हेमचन्द्र ने व्याड़ि को विन्ध्यवासी और नन्दिनीतनय बताया है। दक्ष की सबसे बड़ी कन्या दाक्षी के पुत्र पाणिनि बताये जाते हैं और दक्ष के सबसे छोटे पुत्र के प्रपौत्र व्याड़ि बताये जाते हैं। पतञ्जलि ने लिखा है —

आपिशलि-पाणिनीय-व्याड़ीय-गोतमीयाः।

डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मकर्जी भिषगाचार्य ने 'भारतीय औषधि के इतिह में 'व्याड़ि' को (Chemistty of gems) रत्नों के रसायनशास्त्र प्रामाणिक माना है, और लिखा है कि रामराजा के 'रसरत्नप्रदीप' में व्य के कई उद्धरण मिलते हैं। आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने 'हि कमिस्ट्री के इतिहास' में 'रसराजलक्ष्मी' में व्याड़ि की प्रशंसा बताई है अ 'व्याड़ि' के विषय में गरुड़पुराण का यह श्लोक प्रसिद्ध बतलाया है:—

व्याड़िर्जगाद जगतां हि महाप्रभावः सिद्धो विदग्धहिततत्परया दयालुः ॥

(५) भर्तृमेण्ठ

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि मेण्ठ ने काव्यकार की परी उज्जयिनी में उत्तीर्ण की थी। राजशेखर ने अपने आपको भर्तृमेण्ठ का अवतार माना है। अपने 'बालरामायण' में लिखा है:—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

'सूक्तिमुक्तावली' में लिखा है:—

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः ॥

'उदयसुन्दरीकथा' में बताया है—

स कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः।
रसप्लवेऽपि स्फुरति प्रकामं वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव ॥

मेण्ठ को हस्तिपक भी कहते हैं। कल्हण में 'राजतरंगिणी' में लिखा कि राजा मातृगुप्त ने मेण्ठ के 'हयग्रीववध' को बहुत ही सुन्दर काव्य बतल और जब पुस्तक की जिल्द बँध रही थी तब यह विचार कर कि कहीं इस "रस" चला न जाय, पुस्तक के नीचे रखने को एक सुवर्ण की थाली दी थी

राजशेखर के अनुसार वाल्मीकि ही ने मेण्ठ होकर जन्म लिया था। फि मेण्ठ भवभूति हुए और भवभूति ही राजशेखर हुए।

मंख कवि ने मेण्ठ को सुबन्धु, बाण, और भारवि की श्रेणी में रखा है।

डाक्टर ए० बैरीडेल कीथ की राय में ईसा की छठी शताब्दी के उत्तर में मेण्ठ का होना सही प्रतीत होता है।

'शारंगधरपद्धति' में विक्रम और भर्तृमेण्ठ की सम्मिलित सूक्तियाँ उद्ध की हुई मिलती हैं। 'राजतरंगिणी' में विक्रम, भर्तृमेण्ठ और मातृगुप्त (कालिदास को मित्र बताया है।

(६) मत्स्येन्द्रनाथ

उज्जैन में क्षिप्रा के किनारे भर्तृहरि गुफा के पास और महाकाली (गढ़ कालिका) के मन्दिर से थोड़ी दूर पीर मछन्दरनाथ का बड़ा रमणीक स्थान है।

यह 'नाथ' सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। 'स्कन्दपुराण' नागरखण्ड, 'नारदपुराण' उत्तरभाग, 'शंकरदिग्विजय,' 'ज्ञानेश्वर चरित्र', 'नाथलीलामृत', 'भक्तिविजय' और कल्याण के 'संत-अंक' में मत्स्येन्द्रनाथ की कथाएँ दी गई हैं।

कहा जाता है कि एक मछली के पेट से इनका जन्म हुआ था। पूर्व-पुण्य के कारण इन्हें शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो गई थी। इनको मत्स्यनाथ, मीननाथ, सिद्धिनाथ आदि भी कहते हैं। आपकी उत्कृष्ट योग-रचना 'मत्स्येन्द्रसंहिता' के नाम से प्रसिद्ध है।

वे आदिनाथ शंकर के शिष्य तथा गोरखनाथ के गुरु थे। प्रसिद्ध है कि—

आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः।
मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम्॥

कहा जाता है कि एक बार अपना शरीर छोड़ सिंहल द्वीप के राजा के शरीर में प्रवेश किया। शरीर की रक्षा का भार गोरखनाथ के ऊपर था। खोज करते करते गोरखनाथ सिंहल द्वीप में गये और गुरु के हृदय में स्मृति जगाने के निमित्त तबला बजाते थे जिसमें से "जाग मछन्दर गोरख आया" की स्पष्ट ध्वनि निकलती थी। होश आने पर वे पूर्व शरीर में लौट आये।

ये 'काव्य-व्यूह' की रचना करते हुए एक काया से लीला दिखाते थे और दूसरे में 'भँवरगुफा' में बैठकर निर्विकल्प समाधि में लीन होते थे। समस्त उत्तर-भारत में और महाराष्ट्र में इनके नाम से सम्बद्ध स्थान पाये जाते हैं।

(७) राजा साहसांक

राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में साहसांक नाम के आदर्श साहित्य-प्रेमी उज्जैन के राजा का उल्लेख किया है। राजा साहसांक ने अपने अन्तःपुर और राज-प्रासाद में संस्कृत भाषा के सिवाय दूसरी भाषा बोलने का निषेध कर दिया था और 'ट, ठ, ड, ढ' और 'ष' का प्रयोग भी रोक दिया था। उनके राज्यकाल में उज्जयिनी में कोमलकान्त पदावली और संस्कृत भाषा कितनी फली-फूली होगी, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ राजा के चोबदार और द्वारपाल भी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे वहाँ अवश्य ही साहित्य भी बहुत ही ऊँची श्रेणी का रहा होगा।

वासुदेव, शूद्रक, सातवाहन और साहसांक इन चार राजाओं के राज्यकाल में कवियों का बड़ा सम्मान रहा था।

राजशेखर के अनुसार यह राजा लोग ब्रह्मसभा (कवि दरबार) में सभा
रहते थे और कवियों को दान देकर मान बढ़ाते थे। राजशेखर ने लिखा
कि ब्रह्म सभाओं में काव्य परीक्षा होनी चाहिए और परीक्षोत्तीर्ण का रथ
बैठाकर जलूस निकाला जाये और पट्टबन्ध होना चाहिए। साहसांक के
में, एवं उज्जयिनी में प्राचीन काल में सदा ऐसी ही काव्यकार की परीक्षा ह
आई है यह 'काव्य मीमांसा' से विदित होता है।

सूक्तिमुक्तावली में राजा साहसांक के विषय में लिखा है:—

शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसांकः स भूपतिः।
सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम् ॥

'सरस्वतीकंठाभरण' में लिखा है—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसांकस्य के न संस्कृतवादिनः ॥

'इण्डियन कल्चर' के आक्टोबर १९३९ में श्री० एस० के० दी
महोदय ने साहसांक-सम्बन्धी लेख में दो शिलालेखों का पता दिया है:—

(१) महोबा दुर्ग का शिलालेख जिसमें लिखा है—
व्योमार्कार्णवसङ्ख्याते साहसांकस्य वत्सरे।

(२) रोहतासगढ़-शैल का लेख जिसमें लिखा है—
नवभिरथ मुनीन्द्रैर्वासराणामधीशैः परिकलयति सङ्ख्यां वत्सरे साहसांके

'प्रबन्धचिन्तामणि' के प्रथम प्रबन्ध के प्रारम्भ में "विक्रमार्कः" की प्र
है। अन्त में 'साहसांक' की प्रशंसा इन शब्दों में है:—

वन्यो हस्ती स्फटिकघटिते भित्तिभागे स्वबिम्बं
दृष्ट्वा दूरात्प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु।
हत्वा कोपाद् गलितरदनस्तं पुनर्वीक्ष्यमाणो
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशंकया साहसांकः ॥

जैन ग्रंथों में विक्रमार्क और साहसांक इस प्रकार एक ही माने गये हैं।

'अमरकोष' की टीका में क्षीरस्वामी ने साहसांक को विक्रमादित्य चन्द्र
का पर्यायवाची शब्द बतलाया है यथा—

विक्रमादित्यः साहसांकः शकान्तकः। शूद्रकस्त्वग्निमित्रो वा हालः स्यात्सातवा

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही 'साहसांक' थे, ऐसा मत विद्वानों का है। प्र
में वे 'देवीचन्द्रगुप्त नाटक', अबुल हसनअली का 'मजमल-उल-तवारीख' (१
ईसवी); सज्जन ताम्रपत्र; और गोविंद चतुर्थ राष्ट्रकूट की प्रशंसा में स
और कैम्बे में निकले कुछ शिलालेख बतलाते हैं।

ये प्रमाण बहुत अंशों में कल्पना को सही बतलाते हैं परन्तु यह नहीं है कि ये प्रमाण निर्विवाद ही हों। सम्भव है कि साहसांक कोई दूसरे विक्रमादित्य हों।

(८) मयूरकवि

मयूर का अवन्ती में शंकर से शास्त्रार्थ में परास्त होना 'शंकरदिग्विजय' में लिखा हुआ है। यह बाणभट्ट के श्वशुर व उनके व मातंग दिवाकर के समकालीन बताये जाते हैं। इन्होंने अपनी लड़की या बहिन के ऊपर कुछ कविता बनाई थी जिससे क्रुद्ध होकर उसने इनको शाप दिया कि तुम कोढ़ी हो जाओ। कुष्ठ होने पर इन्होंने सूर्याष्टक बनाकर सूर्य की प्रार्थना करके शाप से मुक्ति पाई। पद्मगुप्त के 'नवसाहसांकचरित' में बाण और मयूर की प्रतिद्वन्द्विता का वर्णन किया है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' व अन्य ग्रंथों में लिखा है कि मयूर की बहिन बाणभट्ट को ब्याही थी जिसने मयूर को शाप दिया था। मेरुतुंगाचार्य के कथनानुसार राजा भोज की राजसभा में बाण और मयूर रहे थे। दूसरे ग्रंथ इनको राजा हर्षवर्धन की राजसभा में होना मानते हैं।

इनका 'मयूराष्टक' प्रसिद्ध है। इनके काव्य की भाषा दुरूह व जटिल है, परन्तु इनमें प्रतिभा पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

(९) भट्ट भास्कर

आदि गुरु शंकराचार्य के समकालीन उज्जयिनी में भट्ट भास्कर थे जिनके लिए 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि वे ब्राह्मणवंश के अवतंश थे और उन्होंने सब वेद-मंत्रों की व्याख्या लिखी है। माधवाचार्य ने लिखा है कि—

अभिरूपकुलावतंसभूतं बहुधा व्याकृतसर्ववेदराशिम्॥

भट्ट भास्कर को भी अपनी विद्या पर अभिमान था और शास्त्रार्थ के पूर्व, 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि उन्होंने स्वयं अपने लिए यह कहा कि "सूक्तियाँ जब मेरे मुँह से निकलती हैं, तब कणाद की कल्पना क्षुद्र मालूम होती है और कपिल का प्रलाप भाग खड़ा होता है। जब प्राचीन आचार्यों की यह दशा है तब आजकल के विद्वानों की गणना ही क्या है?"

इस कथन में सत्य का बहुत अंश था, इसका पता शंकर और भट्ट भास्कर के उज्जयिनी में किये हुए शास्त्रार्थ और युक्तियों का पठन करने से भली भाँति चलता है।

अन्त में शंकराचार्य की विजय हुई परन्तु इस विजय के समय भी, 'शंकरदिग्विजय' में, भट्ट भास्कर की विद्वत्ता को स्वीकृत किया गया। अन्तिम श्लोक है—

इति युक्तिशतैरमर्त्यकीर्त्तिः सुमतीन्द्रं तमतन्द्रितं स जित्वा।
श्रुतिभावविरोधिभावभाजं विमतग्रंथममन्थरं ममन्थ॥

(इस प्रकार अनेक सूक्तियों से अमरकीर्ति शंकर ने उस उद्योगशील पंडित-श्रेष्ठ भट्ट भास्कर को जीतकर श्रुतिभाव के विरुद्ध अभिप्राय को प्रकट करनेवाले उनके ग्रंथ का शीघ्र खण्डन किया।)

यह ग्रंथ भेदाभेद मत का प्रतिपादक था।

(१०) हरिश्चन्द्र भट्टारक

राजशेखर ने लिखा है कि उज्जयिनी में काव्यकार-परीक्षा में हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त भी परीक्षित हुए थे। विद्वानों की कल्पना है कि हरिश्चन्द्र तो भट्टारक हरिश्चन्द्र हैं और चन्द्रगुप्त साहसांक विक्रमादित्य हैं। गुप्त शिलालेखों में भट्टारक पद का बहुत प्रयोग हुआ है। और 'विश्वप्रकाशकोश' में लिखा है कि भट्टारक पद राजा के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसलिए श्रीयुत भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतवर्ष के इतिहास' में लिखा है कि भट्टारक हरिश्चन्द्र, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का भाई या निकटतम सम्बन्धी रहा होगा।

बाणभट्ट ने इन्हीं हरिचन्द्र भट्टारक के एक गद्य-ग्रंथ का स्मरण करते हुए लिखा है—

भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।

भट्टारक हरिश्चन्द्र की 'चरकटीका' का कुछ भाग अब भी प्राप्त है और आयुर्वेद ग्रंथों में हरिश्चन्द्र की 'चरकव्याख्या' के उद्धरण बहुत मिलते हैं। 'अष्टांग-संग्रह' की व्याख्या में इन्दु ने भट्टारक हरिश्चन्द्र को एक 'खरणाद संहिता' का कर्त्ता भी बतलाया है।

महेश्वर ने शक १०३३ में अपने 'विश्वप्रकाशकोश' की भूमिका में कन्नौज के राजा के वैद्य श्रीकृष्ण को हरिश्चन्द्र के कुल में पैदा हुआ बतलाया है। और इस कुल को अनेक राजाओं से वन्दनीय कुल ("आसीदसीम-वसुधाधिप-वन्दनीये") बतलाया है। यह भी लिखा है कि चरक व्याख्याकार हरिश्चन्द्र श्रीसाहसांक राजा का ही वैद्य था।

श्रीसाहसांकनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरंगसुपदद्वयमेव बिभ्रत्।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार॥

इस प्रकार वैद्यवर हरिश्चन्द्र भट्टारक का परीक्षा-स्थान ही नहीं, बहुत काल तक निवासस्थान भी राजा साहसांक की उज्जयिनी रहा है। विल्सन का यह लिखना सही नहीं है कि साहसांक ११११ ई० में गाजीपुर में राजा था जिसके यहाँ महेश्वर वैद्य था। वास्तव में उपर्युक्त श्लोक में हरिश्चन्द्र भट्टारक

की ही प्रशंसा है कि वह सम्राट् साहसांक के यहाँ वैद्य था और श्रीकृष्ण और महेश्वर उसी के बड़े कुल में जन्मे थे।

कहा जाता है कि बिना हरिश्चन्द्र की व्याख्या के चरकसंहिता का समझना अत्यन्त कठिन है। श्लोक प्रसिद्ध है—

हरिश्चन्द्रकृतां व्याख्यां विना चरकसम्मतम्।
यस्तृणोत्यकृतप्रज्ञः पातुमीहति सोऽम्बुधिम्॥

(११) आर्यसूर

राजशेखर ने सूर का नाम उन आठ महाव्यक्तियों में लिखा है कि जिन्होंने उज्जयिनी में शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। विद्वानों का मत है कि यह सूर बौद्ध कवि आर्यसूर है। आर्यसूर की 'जातकमाला' प्रसिद्ध है और चीनी यात्री ईत्सिंग ने लिखा है कि मठों में और चैत्यों में विद्यार्थीगण और भिक्षु लोग 'जातकमाला' का बड़ी श्रद्धा के साथ अध्ययन करते थे।

ईत्सिंग के अनुसार 'जातक' का अर्थ है 'पूर्व जन्म' और 'माला' हार को कहते हैं। जातकमाला में बोधिसत्वों के पूर्वजन्मों में किये कठिन कार्यों की कथाएँ एक सूत्र में पिरोई गई हैं। 'जातकमाला' बड़े मधुर संस्कृत काव्य में है जिससे पता चलता है कि अश्वघोष की तरह आर्यसूर भी पाली छोड़कर संस्कृत काव्यधारा के प्रेमी थे। इससे यह भी पता चलता है कि प्रसिद्ध विद्वान् लोग उस समय पाली का सहारा छोड़कर राज्यदरबार व साहित्यिकों की रुचि देखकर संस्कृत को ही अपना रहे थे। 'जातकमाला' के कई श्लोकों को लेकर अजन्ता की गुफा में कई चित्र भी बनाये गये हैं जिससे ज्ञात होता है कि 'अजन्ता' गुफा की चित्रकला के पूर्व आर्यसूर की 'जातकमाला' अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुकी थी। आर्यसूर का एक अन्य ग्रंथ ईसवी सन् ४३४ में चीनी भाषा में अनुवादित हुआ था। इसलिए इस समय से बहुत पहले आर्यसूर का प्रादुर्भाव हुआ होगा।

आर्यसूर के गद्य और पद्य दोनों प्राञ्जल और मधुर हैं। उनका काव्य सुन्दर कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उनका छन्द ज्ञान बहुत ऊँचा और भाषा दूषणरहित है। बड़े-बड़े समास, विशेष करके गद्य में, जातकमाला में अवश्य आते हैं परन्तु वे कृत्रिम न होकर स्वतः आते चले जाते हैं और उनसे भाषा की सरसता और सुन्दर प्रवाह में बाधा नहीं पड़ती। संस्कृत साहित्य के इतिहास में 'जातकमाला' का एक अद्वितीय स्थान है।

(१२) महाकवि धनपाल

श्री मेरुतुंगाचार्य के 'प्रबन्धचिन्तामणि' में महाकवि धनपाल का जीवन-

चरित दिया हुआ है। लिखा है कि संकाश्य गोत्रीय सर्वदेव नामक ब्राह्मण उज्जयिनी में रहा करता था। उसके दो पुत्र थे, धनपाल और शोभन। सर्वदेव की आस्था जैनधर्म पर थी और श्रीवर्धमान सूरि के कहने के अनुसार शोभन ने जैनधर्म में दीक्षा ले ली। धनपाल जैनियों का विरोधी रहा। उज्जयिनी में समस्त विद्याध्ययन करने के अनन्तर वह भोज की पंडित मंडली में सुप्रतिष्ठित हुआ और उसने बारह वर्ष उस देश में जैन दार्शनिकों के आगमन को निषिद्ध कराया। बाद में शोभन के संसर्ग से धनपाल भी जैनधर्म में सत्य देखने लगा। बुद्धिमान् तो था ही, अतएव कर्मप्रकृति प्रभृति जैन विचार-ग्रंथों में भी वह बड़ा प्रवीण हुआ।

धनपाल के कई वाक्य-चातुरी और काव्य-चातुरी के उदाहरण 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में मिलते हैं। धनपाल की प्रेरणा से राजा ने मृगया (शिकार) और जीवों की हत्या का त्याग किया। एक दिन यज्ञ-मण्डप में यज्ञ-स्तंभ से बँधे हुए बकरे की आवाज सुनकर उसकी तरफ देखकर राजा भोज ने पूछा कि यह बकरा क्या कह रहा है ? धनपाल ने उत्तर दिया कि यह बकरा कह रहा है—

नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया
सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो न युक्तं तव।
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहिता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः।।

(मैं स्वर्गफल भोगने का अभिलाषी नहीं हूँ; मैंने इसके लिए तुमसे याचना भी नहीं की। मैं तो केवल तृण खाकर ही सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। यदि निश्चय ही यज्ञ में मारे जानेवाले प्राणी स्वर्ग में जाते हैं; तो हे साधो, अपने माता-पिता, बांधव और पुत्रों का यज्ञ में बलिदान क्यों नहीं करते ?)

इस उत्तर को सुनकर राजा को अहिंसा पर श्रद्धा उत्पन्न हुई।

एक दिन राजा क्रोध में धनपाल के साथ आ रहा था। एक बालिका के साथ एक वृद्धा रास्ते में आती दिखाई दी। वृद्धा का सिर बुढ़ापे के मारे हिल रहा था। राजा ने पूछा इस वृद्धा का सिर क्यों हिल रहा है। धनपाल ने उत्तर में श्लोक पढ़ा—

किं नंदी किं मुरारिः किमु रतिरमणः किं विधुः किं विधाता
किं वा विद्याधरोऽसौ किमुत सुरपतिः किं नलः किं कुबेरः।
नायं, नायं, न चायं, न खलु नहि न वा नापि नासौ न चासौ
क्रीडां कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमपि च हले ! भूपतिर्भोजदेवः।।

(यह वृद्धा सोचती है कि यह जो सामने चला आ रहा है वह नन्दी है या मुरारि? कामदेव है या चन्द्रमा? विद्याधर है या विधाता? इन्द्र है या नल है या कुबेर? फिर देखकर उत्तर देती है, "ना ना यह वह नहीं है, यह भी नहीं है, बिलकुल यह नहीं है, वह भी नहीं है, और वह भी नहीं है। यह तो क्रीड़ा करने में प्रवृत्त स्वयं राजा भोज है"। इसी लिए वृद्धा का सिर बार बार हिल रहा है।)

यह सुनकर राजा का क्रोध जाता रहा।

धनपाल ने 'तिलकमंजरी' नामक सुन्दर काव्य-ग्रंथ लिखा था। राजा ने पढ़कर यह इच्छा की—"इस ग्रंथ का नायक मुझे बनाओ, विनीता के स्थान में अवन्ती का नाम रखो, शक्रावतार तीर्थ की जगह महाकाल करो, फिर जो माँगोगे मैं तुमको दूंगा।" स्वतंत्र-प्रकृति कवि ने इसको अस्वीकार किया और यह और कह दिया कि "जिस प्रकार खद्योत और सूर्य में, सरसों और सुमेरु में, काँच और काञ्चन में तथा धतूरे और कल्पवृक्ष में महान् अन्तर है उसी तरह तुममें और उनमें है।" जब इस प्रकार कवि अनर्गल बक रहा था राजा ने क्रोध में आकर मूल प्रति को जलती आग में फेंक दिया।

उदास होकर पंडित अपने घर में आकर मंच पर सो गया। उसकी विद्वान् कन्या बालपंडिता ने पंडित को उठाया और 'तिलकमञ्जरी' की प्रथम प्रति के लेखन का स्मरण कर आधा ग्रंथ लिखा दिया। फिर पंडित ने उत्तरार्ध नया लिखकर ग्रंथ सम्पूर्ण किया। ग्रंथ समाप्त होने पर रुष्ट होकर नाणागाँव में चला गया। परन्तु भोज ने फिर बुलवा लिया और अन्त तक राजा भोज के साथ बना रहा। 'तिलकमंजरी' में भारतीय समुद्री बेड़े का एवं सामुद्रिक युद्ध का बड़ा रोचक एवं विस्तृत वर्णन है। डाक्टर मोतीचन्द्र के 'सार्थवाह' में इस काव्य के अनुवाद से कई पृष्ठ शोभा पा रहे हैं।

रियासत धार के इतिहास में धनपाल और शोभन राजा मुंज के दरबार में बताये गये हैं, राजा भोज के नहीं। धनपाल के लिए कहा गया है कि "धनपाल का सरस वचन और मलयागिरि का सरस चन्दन हृदय में लगाकर कौन शान्त नहीं होता?"

वचनं धनपालस्य चंदनं मलयस्य च।
सरसं हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृतः॥

(१३) गुणशर्मा

गुणशर्मा एक वेद-विद्या-विशारद, संगीत, नाटचकला में दक्ष, राजनीति में चतुर ब्राह्मण थे जो राजा महासेन के मंत्री हुए और उसके अनन्तर उज्जयिनी के राजा हुए।

'कथासरित्सागर' में इनके पिता का नाम आदित्यसेन बतलाया है। पाँचवीं वर्ष में आदित्यसेन के पिता का स्वर्गवास हुआ और उनकी माता सती हुई। आदित्यसेन उज्जैन में अपने मामा के घर पाले गये। विद्याध्ययन के अनन्तर एक परिवार के साथ यक्षिणी सिद्ध की और बाद में वेना नदी के तीर पर दक्षिण में तुम्बवन नामी स्थान पर बौद्ध संन्यासियों में श्रेष्ठ विष्णुगुप्त से दीक्षा लेकर सुलोचना यक्षिणी की सिद्धि की। सुलोचना के गर्भ से, या प्रसाद से, गुणशर्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आदित्यसेन के मामा के घर उज्जैन में ही पाला गया। विद्याध्ययन के अनन्तर गुणशर्मा राजा महासेन के दरबार में पहुँचे और फिर उनकी अंतरंग सभा के सदस्य बने।

गुणशर्मा नृत्यकला में इतने दक्ष थे कि उनकी कला का हावभाव कटाक्ष की उत्तमता देखकर देखनेवाले आनन्द से विभोर हो जाते थे। जब वीणा बजाते तो उनकी संगीत की लहरी ऐसी मनोहर लगती थी मानों तीनों लोकों को पावन करनेवाली गंगा की धारा हो। उनका गाना सुनकर मनुष्य चित्र के समान देखते रह जाते थे। शस्त्र और अस्त्र विद्या में उनके समान गुणी दूसरा न था। बन्धकरण मंत्र में ऐसे दक्ष थे कि अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित शत्रु को भी बाँध सकते थे। एक बार सोमक राजा पर जब महासेन ने चढ़ाई की तब महासेन को गौडेश्वर राजा विक्रमशक्ति ने बीच में ही घेर लिया था तब बड़े साहस के साथ, रात्रि के समय, गुणशर्मा ने राजा विक्रमशक्ति के शिविर में पहुँचकर विष्णु भगवान् के दूत बनकर, उनकी सेना को वापिस जाने पर मजबूर किया था। तदनन्तर महासेन ने सोमक राजा पर विजय पाई थी।

एक बार नदी में कूदकर महासेन राजा को घड़ियाल से बचाया और दूसरी बार जब महासेन को सर्प ने डस लिया था तो सर्प-विष से राजा की रक्षा की।

शस्त्र चलाने में ऐसे निपुण थे कि विक्रमशक्ति से जब बाद में युद्ध हुआ तो शनैः शनैः सेना थकने लगी थी। दोनों राजा विरथ होकर पैदल लड़ने लगे थे। महासेन पृथ्वी पर फिसल पड़े उसी समय विक्रमशक्ति ने खड्ग का प्रहार किया। गुणशर्मा ने तुरन्त ही एक चक्र से उसको काट दिया और राजा विक्रमशक्ति को तलवार की धार से स्वर्ग पहुँचाया।

इतने राजभक्त मंत्री को भी राजा महासेन ने रानी अशोकवती के मिथ्या दोषारोपण के कारण अपमानित करके देश से निकलवा दिया। गुणशर्मा ने तदनन्तर निराश होकर अवन्तिका के समीपस्थ एक ग्राम में अग्निदत्त के गृह में अत्यन्त गुप्त पातालवसति नामक भूगृह में रहते हुए तपस्या करके स्वामि-कार्तिक को प्रसन्न किया और फिर धीरे-धीरे एक बड़ी सेना को एकत्रित

करके उज्जयिनी पर धावा बोला और राजा महासेन पर विजय पाकर उज्जयिनी का राज अपने हाथ में लिया। अग्निदत्त की कन्या सुन्दरी से ब्याह करके अभीष्ट भोगों को भोगते हुए बहुत दिन तक सुखपूर्वक उन्होंने उज्जयिनी पर राज्य किया।

(१४) महाकवि भारवि

राजशेखर ने लिखा है कि भारवि उज्जैन में शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे।

एहोललेख में भारवि कालिदास के समकालीन बताये हैं। दोनों का नाम साथ-साथ है। काशिकावृत्ति में भी उनके उदाहरण हैं। कालिदास का प्रभाव उनके काव्य में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और माघ के काव्य में भारवि का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विद्वानों का मत है कि वे ५०० ई० और ५५० ई० के मध्य में रहे होंगे।

उनका 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य है। यह अधिकतर महाभारत की एक अन्य कथा के रूप में है। पांडवों ने १२ वर्ष के वनवास में किस तरह निर्वाह किया और अर्जुन को वेदव्यास ने किस तरह हिमालय पर्वत पर इन्द्र की आराधना करने को भेजा और अर्जुन ने इन्द्र को प्रसन्न करके शिवजी को युद्धकला दिखाकर किस तरह से अमूल्य शस्त्र लिए, इसकी विस्तृत कथा किरातार्जुनीय में कही गई है। अलंकार और विविध छन्दों से किरातार्जुनीय भरा पड़ा है। भारवि इतने प्रसिद्ध हैं कि इनके काव्य के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है।

(१५) आचार्य दण्डी

जिस प्रकार कालिदास की 'उपमा' प्रसिद्ध है उसी प्रकार दण्डी का 'पद-लालित्य' भी प्रसिद्ध है। श्री माधवाचार्य के 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि शंकर ने अवन्तिका में दण्डी को भी शास्त्रार्थ में परास्त किया था। दण्डी के समय का पता नहीं चलता परन्तु इनको भामह (७०० ई०) का पूर्ववर्ती सिद्ध किया जाता है। दण्डी ने अपने तीन ग्रन्थ बताये हैं जिनमें से दो ही प्रसिद्ध हैं। प्रथम 'दशकुमारचरित' और द्वितीय है 'काव्यादर्श'। तीसरे ग्रंथ का पूर्ण पता नहीं चलता।

'दशकुमारचरित' में दश राजकुमारों के प्रेम-परिणय का वर्णन है। गुणाढय की 'बृहत्कथा' की तरह ही एक कथा में दूसरी कथा की गुत्थी उलझी हुई प्रतीत होती है। 'दशकुमारचरित' में वर्णित देशों के नाम व भूगोल से यह पता चलता है कि वे नाम हर्षवर्धन के साम्राज्य के पहले के

हैं। भाषा की सादगी के कारण 'दशकुमारचरित' बाणभट्ट और सुबन्धु के पूर्व लिखित बताया जाता है।

'दशकुमारचरित' में किसी शैली की व्यवस्था नहीं है परन्तु जहाँ कहीं किसी का वर्णन किया गया है वह अद्वितीय है। साहसी कार्य और निम्नकोटि के जीवन का दिग्दर्शन उत्तम रीति से कराया गया है। जादूगर और पाखंडी, चोरशास्त्र के विशेषज्ञ, प्रेमी और प्रेमिकाओं का वर्णन यत्र-तत्र किया गया है। अपहारवर्मन् चोरों का राजा है। कर्णीसुत चोरशास्त्र का आचार्य और ग्रंथकार है। कर्णीसुत के शास्त्र के अनुसार एक नगर को लूटने के लिए अपहारवर्मन् प्रबन्ध करता है। कारण केवल-मात्र यह है कि एक वेश्या से एक अभागा पुरुष लूट लिया गया था और नगर में बहुत से कंजूस बसते थे। धर्म के सिद्धान्त जो कुछ बताये गये हैं वे निम्न प्रकार के हैं। धार्मिक ब्राह्मणों पर व्यंग की बौछारें हैं, एक दिगम्बर जैन साधु का उपहास किया गया है और एक बौद्ध भिक्षुणी कुट्टिनी के कार्य में दक्ष बताई गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक संघों में दण्डी के समय में अधर्म बढ़ चुका था और ग्रंथकार ने जो कुछ देखा उसको किसी न किसी बहाने इस ग्रंथ में वर्णन कर दिया। यह नीतिसार का ग्रंथ बताया जाता है परन्तु कथा ऊँची नहीं है और न उनसे किसी ऊँचे सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है।

'काव्यादर्श' एक बहुत ऊँचा ग्रंथ है और इसी लिए समालोचकों ने यह शंका प्रकट की है कि 'काव्यादर्श' के ऊँचे ग्रंथ का रचयिता 'दशकुमारचरित' सरीखा साधारण ग्रंथ शायद न लिखेगा। शंका का समाधान यह बताया जाता है कि 'दशकुमारचरित' अल्प अवस्था में लिखा गया और काव्यादर्श शायद परिपक्वावस्था में रचा गया था। वास्तव में 'काव्यादर्श' से ही दण्डी को साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान मिला है।

श्री कन्हैयालालजी पोद्दार ने लिखा है कि दण्डी का समय सम्भवतः ईसा की सप्तम शताब्दी का अन्तिम चरण है। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' अभी मद्रास से मुद्रित हुई है जिसके आधार पर लिखा है कि आचार्य दण्डी सुप्रसिद्ध 'किराता-र्जुनीय' महाकाव्य के प्रणेता कवि भारवि के प्रपौत्र थे। 'इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली' की तीसरी जिल्द में श्रीयुत् हरिहर शास्त्री ने इस मुद्रित पुस्तिका को अशुद्ध बतलाया है और इसलिए इसके आधार पर कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। एक प्राचीन श्लोक में लिखा है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

जगत् में पहला कवि वाल्मीकि हुआ, दूसरा व्यास और तीसरा दण्डी।

(१६) सुबन्धु

सुबन्धु महाराज विक्रमादित्य के समकालीन और वररुचि के भानजे (भागिनेय) थे। सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' नाम की कथा गद्यकाव्य में लिखी ह। बाणभट्ट ने इस 'वासवदत्ता' की 'हर्षचरित' में प्रशंसा की है। यह 'वासवदत्ता' चण्डप्रद्योत की कन्या नहीं है; परन्तु एक दूसरे राजा शृंगारशेखर की कन्या है। राजा चिन्तामणि के पुत्र कन्दर्पकेतु उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर प्रेम में पड़ जाते हैं और घूमते-घूमते वासवदत्ता को खोज लेते हैं और तदनन्तर ब्याह हो जाता है। कथा कोई बड़ी नहीं है; कथानक भी साधारण है। परन्तु काव्य में प्रतिभा अवश्य है। वाक्पतिराज के 'गौडावह' में सुबन्धु को भास, कालिदास और हरिश्चन्द्र की श्रेणी में बताया है। मंख के 'श्रीकण्ठचरित' में सुबन्धु को भर्तृमेण्ठ, भारवि और बाणभट्ट की श्रेणी में बताया है। 'राघव-पांडवीय' में कविराज, बाणभट्ट और सुबन्धु को श्लेष कविता का आचार्य बताया है। बाणभट्ट ने यहाँ तक लिखा है कि 'वासवदत्ता' से कवियों का दर्प जाता रहा—

कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।

'वासवदत्ता' से ज्ञात होता है कि उस समय बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों के परस्पर दार्शनिक वादविवाद होते थे। सुबन्धु ने लिखा है कि—

केचिज्जैमिनिमतानुसारिण इव तथागतमतध्वंसिनः।

(तथागत वा बुद्ध के सिद्धान्त का विध्वंस जैमिनि के मतानुयायी करते हैं।)

सुबन्धु ने एक स्त्री की प्रशंसा में लिखा है—

न्यायस्थितिम् इव उद्योतकरस्वरूपाम्, बौद्धसंगतिम् इव अलंकारभूषिताम्॥

यहाँ पर न्यायवार्तिक के ग्रंथकार उद्योतकर का नाम स्पष्टतः लिया गया है। इससे पता चलता है कि सुबन्धु उद्योतकर के पश्चात् हुए हैं। श्रीयुत् गंगाप्रसादजी मेहता ने सुबन्धु का काल छठवीं शती माना है। डाक्टर कीथ के अनुसार वह बाणभट्ट के समकालीन थे।

महाराज विक्रमादित्य के अनन्तर साहित्य की अवनति को लक्ष्य करते हुए सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' में लिखा है कि—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

(रसवत्ता नष्ट हो चुकी है। नये लोग विलासी हैं। सरोवर की भाँति पृथ्वी पर विक्रमादित्य की कीर्ति शेष रह गई है)।

(१७) आचार्य भद्रबाहु

जैन साहित्य में हेमचन्द्र के 'परिशिष्टपर्व' का प्रथम स्थान है। दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'भद्रबाहुचरित्र' है। इसमें उज्जैन के महाराज चन्द्रगुप्त के गुरु श्रुतकेवलि आचार्य भद्रबाहु का जीवन-चरित्र लिखा है। आचार्य भद्रबाहु जैनाचार्यों में प्रमुख हैं।

भद्रबाहु चरित्र में लिखा है कि अवन्ती देश में 'चन्द्रगुप्ति' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी उज्जैन थी। एक बार राजा चन्द्रगुप्ति ने रात को सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होते ही उसको भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जैन नगरी के बाहर एक सुन्दर बाग में ठहरा हुआ था। वनपाल ने जाकर राजा को सूचना दी कि गण के अग्रणी आचार्य भद्रबाहु अपने 'मुनिसन्दोह' के साथ पधारे हुए हैं। यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा ने जैन-धर्म की दीक्षा ली और अपने गुरु की सेवा में दत्तचित्त हो गया। कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु सेठ जिनदास के घर आये। इस घर में एक अकेला बालक पालने पर झूल रहा था। यद्यपि इसकी वय दो मास ही की थी तथापि भद्रबाहु को देखकर "जाओ जाओ" ऐसा बोलना शुरू किया। भद्रबाहु समझ गये कि घोर दुर्भिक्ष पड़नेवाला है। अतएव उन्होंने ५०० मुनियों को लेकर दक्षिण देश में जाने का निश्चय किया। एकान्त में रहते हुए गिरिगुहा में भद्रबाहु ने अपने प्राण त्याग कर दिये। यद्यपि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त को अपने पास रहने से बहुत मना किया, परन्तु उसने एक न मानी। इसी गिरिगुहा में वह निवास करने लगे और यहीं प्राण त्याग किया। यह स्थान श्रवण-बेलगोला (मैसूर) बतलाया जाता है।

"आराधनाकथाकोष" एवं 'पुण्याश्रवकथाकोष' में भी यही कथा पाई जाती है। श्रवण-बेलगोला की स्थानीय अनुश्रुति भी यही बात बतलाती है।

एक पर्वत पर भद्रबाहु स्वामी की गुफा ह और पास ही एक मठ 'चन्द्र-गुप्तवस्ति' है। यहाँ पर कई शिलालेख मिले हैं जो श्री राइस के 'मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रोम इन्सक्रिप्शनस्' में छापे गये हैं। श्रीयुत् सत्यकेतु विद्यालंकारजी ने अपने 'मौर्य साम्राज्य के इतिहास' में इनको उद्धृत किया है। इन शिला-लेखों से भी इस कथा की पुष्टि होती है।

प्रश्न यह है कि यह चन्द्रगुप्त कौन थे? विद्वानों ने (मुख्यकर डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी और विन्सेण्ट स्मिथ ने) यह सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य माने

हैं। श्रीयुत् सत्यकेतुजी ने अन्य विद्वानों के साथ यह चन्द्रगुप्त—सम्राट् अशोक के प्रपौत्र और उत्तराधिकारी सम्राट् सम्प्रति चन्द्रगुप्त द्वितीय माने हैं।

जैनग्रंथ 'राजावलिकथा' में इन चन्द्रगुप्त के पुत्र सिंहसेन बताए हैं जिनको राजगद्दी देकर चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के साथ दक्षिण गये। चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार थे, सिंहसेन नहीं। इसलिए श्री सत्यकेतुजी चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य नहीं मानते।

परन्तु सम्प्रति (जिनको श्री चन्द्रशेखर शास्त्री और सत्यकेतुजी चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं) के कोई पुत्र सिंहसेन नाम का नहीं था। सम्प्रति अवश्य जैन था और सम्राट् सम्प्रति की राजधानी भी उज्जैन थी परन्तु उनके बाद साम्राज्य का उत्तराधिकारी शालिशुक हुआ था। शालिशुक ने अपने बड़े भाई का घात कर स्वयं राज्य पर अधिकार जमा लिया था। शालिशुक के भाई का नाम भी सिंहसेन नहीं था। अतएव भद्रबाहु किस संवत् में कौन से चन्द्रगुप्त के साथ मैसूर गये थे यह निश्चित करना बहुत कठिन हो गया है।

श्री मेरुतुंगाचार्य ने 'प्रबन्धचिन्तामणि' में आचार्य भद्रबाहु को आचार्य वराहमिहिर का सगा भाई बतलाया है। वहाँ वह वराहमिहिर को पाटलिपुत्र का रहनेवाला बतलाते हैं। सम्भव है वराहमिहिर पाटलिपुत्र रहने लग गये हों। वराहमिहिर ज्योतिषाचार्य थे परन्तु भद्रबाहु उनसे भी बड़े ज्योतिषी थे। जब वराहमिहिर के पुत्र उत्पन्न हुआ तो उनके घर भेंट देने राजा से लेकर रंक तक सब कोई गया परन्तु भद्रबाहु नहीं गये। पूछने पर बतलाया कि थोड़े दिनों बाद बच्चे का देहान्त हो जायगा और ऐसा ही हुआ। तब से वराहमिहिर भी अपने भाई को बहुत बड़ा ज्योतिषी मानने लगे और जैनधर्म पर श्रद्धा करने लगे थे।

आचार्य वराहमिहिर कपित्थ (वर्तमान कायथा) के रहनेवाले थे (जो उज्जैन से १९ मील पर है) ऐसा उन्होंने 'बृहज्जातक' में स्वयं लिखा है। भद्रबाहु भी उज्जैन में बहुत रहे थे। सम्भव है दोनों भाई ही हों और दोनों समकालीन रहे हों। 'बृहत्गार्ग्यसंहिता' में शालिशुक की कई कथाएँ दी गई हैं। भद्रबाहु, वराहमिहिर और चन्द्रगुप्त यदि एक ही काल में थे तो वराह-मिहिर का शक ४२७ शालिवाहन शक न होकर अवश्य ही कोई दूसरा शक संवत् है। इसी लिए भारतीय तिथि-क्रम या कालगणना में श्री० टी० एस० नारायण शास्त्री की कालगणना अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है जिसके अनुसार वराहमिहिर का काल १२३ ई० पू० से ४३ ई० पू० निश्चित किया गया है। और इसी के आसपास भद्रबाहु का समय होना चाहिए।

इस तरह भद्रबाहु के काल के विषय में विद्वानों के कई मत हैं। दिगम्ब सम्प्रदाय का कथन है कि भद्रबाहु नाम के दो आचार्य थे—(१) प्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे जिनका देहान्त महावीर भगवान् के निर्वाण के १६ साल बाद हुआ (३६५ ईसा के पूर्व) और दूसरे आचार्य का देहान्त उक्त निर्वाण के ५१५ वर्ष बाद (ईसवी सन् के १२ वर्ष पूर्व) हुआ। जैकोबी ने 'भद्रकल्पसूत्र' की भूमिका में और श्री शतीशचन्द्र विद्याभूषण ने 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' में इस मत की पुष्टि की है।

परन्तु इन दोनों आचार्यों से वह भद्रबाहु पृथक् थे जिन्होंने उत्तराधिकार के विषय में धर्मशास्त्र (कानून) का ग्रंथ 'भद्रबाहुसंहिता' लिखा है।

आचार्य भद्रबाहु भगवान् महावीर के बाद छठवें थेर माने जाते हैं 'दसाउ' और 'दसनिज्जुति' के अतिरिक्त उनके 'कल्पसूत्र' का महत्त्व जैन धार्मिक साहित्य में बहुत है।

डाक्टर वितरनित्ज की राय में 'कल्पसूत्र' के तीनों भाग पृथक्-पृथक लिखे गये हैं। प्रथम भाग 'जिन-चरित्र' है जिसमें बड़े विस्तार के साथ भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र वर्णित है। यह 'ललितविस्तर' के ढंग का ही है। 'आचारंग सुत्त' के अनुसार महावीर का ब्राह्मणी के गर्भ में आने के बाद क्षत्राणी के गर्भ में चला जाना बताया गया है। जिसे विद्वान् लोग कृष्ण की परिपाटी बतलाते हैं। इसके बाद महावीर के पूर्व तीर्थंकरों की जीवनलीला भी बतलाई है।

'कल्पसूत्र' के द्वितीय भाग में थेरावली, गण, शाखा और गणधरों का वर्णन है। इस भाग का ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया जा चुका है। भद्रबाहु के बहुत समय के अनन्तर जो गणधर हुए हैं उनका भी इसमें वर्णन है इसलिए इस भाग को भद्रबाहु का लिखा जाना नहीं माना जा सकता।

कल्पसूत्र के तृतीय भाग में 'सामाचारी' की रीति बताई है। जैन साधुओं को किस प्रकार रहना चाहिए ऐसे नियम बताये गये हैं। इसमें 'पज्जोसन के नियम भी हैं। कल्पसूत्र का नाम पी 'पज्जोसवनकप्प' (पर्यूषणकल्प) था इसलिए यह भाग बहुत प्राचीन माना जाता है।

भद्रबाहु के चले जाने के अनन्तर ही श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय अलग-अलग हुए हैं। इसलिए जैन इतिहास में भद्रबाहु और उज्जैन का स्थान बहुत ऊँचा है।

(१८) परमार्थ

बौद्धधर्म का चीन देश में प्रचार करने का श्रेय जिन मध्य भारतीयों को दिया जाता है उनमें परमार्थ का नाम अग्रगण्य है। परमार्थ ने उज्जैन

में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। इनका जन्मकाल ४९९ ईसवी में निश्चित किया गया है।

लियांग वंश के सम्राट् वु-टी (Wu-ti) ने परमार्थ की विद्वत्ता और बौद्ध धर्मज्ञान की प्रशंसा सुनकर चीन में उनको निमंत्रित किया था। आज से १,४०० वर्ष पूर्व, धार्मिक भावना से प्रेरित होकर सन् ५४६ ईसवी में ४७ वर्ष की अवस्था में परमार्थ सुदूर चीन देश गये और ७१वीं वर्ष में कैण्टन नगर में सन् ५६९ ईसवी में उनका देहान्त हुआ। उनके जीवनकाल के बहुमूल्य २४ वर्ष संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में व्यतीत हुआ। उनके कुल अनूदित ग्रंथों की संख्या ५०५ है।

अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का जीवन-चरित्र भी चीनी भाषा में लिखा था। और यह ग्रंथ वसुबन्धु के सम्बन्ध में सबसे प्रथम ग्रंथ है जिसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र थे। प्रसिद्ध सांख्य दार्शनिक विंध्यवास ने बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया था। वसुबन्धु की प्रसिद्धि के पूर्व ही बुद्धमित्र का देहान्त हो चुका था।

परमार्थ ने एक सांख्य कारिका वृत्ति का भी चीनी भाषा में अनुवाद किया था जिसे विद्वानों ने गौडपाद का भाष्य स्वीकृत किया है। गौडपाद शंकराचार्य के परम गुरु थे।

परमार्थ के चीनी अनुवाद के ही आधार पर श्रीयुत् बेलवलकर महोदय ने माठराचार्य के 'माठरवृत्ति' पर एक विद्वत्तापूर्ण लेख श्री भाण्डारकर-अभिनन्दन-ग्रंथ में लिखा था जिसमें ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' का काल निश्चित किया गया है और यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि बौद्ध दार्शनिक भी कपिल के सांख्य को अधिक महत्त्व देते थे।

बहुत से विद्वानों के काल निर्णय करने में परमार्थ के चीनी अनुवाद अत्यधिक सहाय्य प्रदान कर रहे हैं।

(१९, २०) कुमार महेन्द्र और कुमारी संघमित्रा

यह सम्राट् अशोक के पुत्र व कन्या थे। सम्राट् अशोक अपने पिता सम्राट् बिन्दुसार के काल में पहले तक्षशिला और फिर उज्जैन के शासक नियुक्त किये गये थे। कुमार महेन्द्र का जन्म उज्जैन में ही हुआ था।

मौर्य साम्राज्य बहुत विस्तृत था। साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त किया गया था। प्रान्त दो प्रकार के थे। एक साधारण, दूसरे जिन प्रान्तों का राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्त्व था। इन दूसरे प्रान्तों पर शासन करने के लिए कुमारों को ही नियुक्त किया जाता था। ऐसे प्रान्त तीन थे—

(१) उत्तर में तक्षशिला।

(२) दक्षिण में सुवर्णगिरि।

(३) पश्चिमी प्रदेशों का मुख्य नगर उज्जयिनी।

इनके अतिरिक्त कलिंग विजय के अनन्तर तुषाली प्रान्त भी इस श्रेणी में कर दिया गया था।

'महावंश' और 'दीपवंश' के अनुसार जब अशोक अवन्ती के 'कुमार' थे तब उनका सम्बन्ध 'वेदिसगिरि' (भिलसा का बेसनगर) की एक सेट्ठी जाति की कन्या से हो गया था। राजकुमार के साथ फिर इस कन्या का विवाह हो गया। बुद्ध की मृत्यु के २४० वर्ष बाद इस कन्या से एक पुत्र हुआ जिसका नाम महेन्द्र रखा गया। महेन्द्र के जन्म के दो वर्ष बाद एक कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम संघमित्रा रखा गया।

सम्राट् बिन्दुसार की अन्तिम अवस्था का समाचार मिलते ही अशोक उज्जयिनी से पाटलिपुत्र चले गये और पुत्र और कन्या को भी लेते गये। उनकी रानी बेसिनगर में ही रह गई थी। बाद में संघमित्रा का ब्याह एक ब्राह्मण 'अग्निब्रह्मा' से किया जिससे सुमन पुत्र हुआ।

अशोक के राज्यारोहण के चार वर्ष बाद अशोक के भाई तिष्य और अग्निब्रह्मा ने बौद्धधर्म में दीक्षा ले ली थी। तब तक तिष्य युवराज कहलाते थे। बौद्धधर्म में दीक्षित होने के अनन्तर तिष्य का स्थान महेन्द्र को दिया जानेवाला था। परन्तु महेन्द्र के धर्मगुरु "मोद्गलिपुत्त तिष्य" इससे सहमत नहीं हुए। उन्होंने महेन्द्र और संघमित्रा दोनों को भिक्षुव्रत देना निश्चय कर लिया था। सम्राट् इसके लिए सहमत हो गये। दोनों को दीक्षा दे दी गई। सम्राट् के राज्याभिषेक के नौवें वर्ष में देश-देशान्तरों में बौद्ध-धर्म-प्रचार के लिए सभा हुई, और कई प्रचारक मण्डल नियुक्त किये गये। लंका (ताम्रपर्णी) में जो प्रचारक मंडल भेजा गया था उसके प्रधान कुमार महेन्द्र थे। कुमार महेन्द्र लंका यात्रा के पूर्व अपनी माता से मिलने बेसिननगर गये, वहाँ उनको एक भव्य विहार में ठहराया गया। वहाँ माता के भतीजे के पुत्र भन्दु को बौद्धधर्म में दीक्षित करके महेन्द्र लंका ले गये।

ताम्रपर्णी के राजा "देवानां प्रिय तिष्य" पहले ही स्वागत के लिए तैयार थे। राजा के साथ ४०,००० मनुष्यों ने बौद्धधर्म को स्वीकृत किया। राजकुमारी अनुला ने भी ५०० अनुयायी स्त्रियों के साथ बौद्धधर्म में दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। महेन्द्र ने कहा कि स्त्रियाँ ही स्त्रियों को दीक्षा दे सकती हैं, पुरुष नहीं। राजा तिष्य ने तब 'महाअरिट्ठ' के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि-मण्डल सम्राट् अशोक की सेवा में भेजा। सम्राट् ने अपनी पुत्री संघमित्रा

को जाने की अनुमति दी। उसके साथ बड़े समारंभ के साथ बोधिवृक्ष की शाखा भेजी गई, और बड़े आदर के साथ शाखा का लंका में आरोपण किया गया। संघमित्रा के पहुँचने पर अनुला ने ५०० स्त्रियों के साथ बौद्धधर्म में दीक्षा ले ली। राजा तिष्य ने महेन्द्र के लिए 'महाविहार' निर्माण कराया और संघमित्रा के लिए एक स्त्री-विहार बनवाया। संघमित्रा की मृत्यु ७९ वर्ष की आयु में वहीं हुई। महेन्द्र की मृत्यु भी ९० वर्ष की आयु में राजा 'उत्तिय' के राज्यकाल में लंका में ही हुई।

महावंश और दीपवंश के अनुसार, उज्जयिनी में जन्मे और पाले गये महेन्द्र और संघमित्रा के प्रचारकार्य से धीरे-धीरे सारा ताम्रपर्णी द्वीप बौद्ध-धर्म की शरण में पहुँच गया।

(२१) श्री सिद्धसेन दिवाकर

जैन-ग्रंथों में सिद्धसेन दिवाकर को साहित्यिक एवं काव्यकार के अतिरिक्त नैयायिक और तर्कशास्त्रज्ञों में प्रमुख माना है। यह सम्राट् विक्रमादित्य के गुरु और समकालीन माने गये हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय नैयायिक के अनुसार महावीर भगवान् के निर्वाण के ४७० वर्ष व्यतीत होने पर सम्राट् विक्रमादित्य को जैनधर्म की दीक्षा दी गई थी जिसके अनुसार विक्रम संवत् १ होता है। पं० ईश्वरचन्द्रजी विद्यासागर ने सिद्धसेन दिवाकर को ही विक्रम नवरत्नों में से 'क्षपणक" होना सिद्ध किया है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का प्रादुर्भाव और उनका काल महावीर भगवान् के निर्वाण के अनन्तर ७१४ से ७९८ वर्ष तक रहा है। इस हिसाब से उनका काल ईसवी सन् १८७ से २७१ तक रहा है। श्री सिद्धसेन के गुरु का नाम वृद्धवादि सूरि बताया जाता है जो सिंहगिरि और पालित्त के समकालीन थे।

वैवेर ने अपने 'इंडिश स्टूडीन' में विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर के कई कथाओं और किंवदन्तियों का हाल बतलाया है। कहा जाता है कि जैनधर्म की दीक्षा लेने पर विक्रमादित्य का नाम "कुमुदचन्द्र' हो गया था। जैकोबी का विचार है कि "कल्याणमन्दिरस्तोत्र" के काव्यकार ने "कुमुदचन्द्र" का नाम दिये जाने की कथा बिना प्रमाण के लिख दी है। जैकोबी के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का काल ६७० ईसवी के लगभग है। श्री शतीशचन्द्र विद्याभूषण ने सिद्धसेन दिवाकर का काल सन् ४८० से ५५० ईसवी तक माना है।

'वररुचि' की जीवनी के सम्बन्ध में हमने पहले लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर के आदेशानुसार सम्राट् विक्रमादित्य ने एक शासनपट्टिका तैयार

कराई थी जिसको कात्यायन ने लिखा था। संवत् १ चैत्र सुदी १ गुरुवार को लिखी गई इस पट्टिका को जिनप्रभसूरि ने स्वयं देखा था। इस हिसाब से सिद्धसेन दिवाकर के विषय में श्वेताम्बर कालगणना अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

श्री सिद्धसेन दिवाकर का स्थान जैन इतिहास में बहुत ऊँचा है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय उनके प्रति एक ही भाव से श्रद्धा रखते हैं। उनके दो स्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' ४४ श्लोकों में है। यह पार्श्वनाथ भगवान् का स्तोत्र है। इसकी कविता में प्रासाद गुण कम है और कृत्रिमता एवं श्लेष की अधिक भरमार है परन्तु प्रतिभा की कमी नहीं है। किंवदन्ती यह है कि 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' का पाठ समाप्त होते ही उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में शिवलिंग फट गया और उसके मध्य में पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई।

दूसरा 'वर्धमान-द्वात्रिंशिका' स्तोत्र है। यह ३२ श्लोकों में भगवान् वर्धमान महावीर की स्तुति है। इसमें कृत्रिमता एवं श्लेष नहीं है। प्रासाद गुण अधिक है। भगवान् महावीर को शिव, बुद्ध, हृषीकेश, विष्णु, जगन्नाथ एवं जिष्णु मानकर प्रार्थना की गई है। इन दोनों स्तोत्रों में सिद्धसेन की काव्यकला एक ऊँची श्रेणी की पाई जाती है।

'तत्वार्थाधिगमसूत्र' की टीका बड़े-बड़े जैनाचार्यों ने की है। इसके ग्रंथकार को दिगम्बर सम्प्रदाय 'उमास्वामिन्' और श्वेताम्बर सम्प्रदाय 'उमास्वाति' बतलाते हैं। उमास्वाती के इस ग्रंथ की टीका श्री सिद्धसेन दिवाकर ने बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखी है।

सम्राट् विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर के सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ थे इसमें सन्देह नहीं है। एक का ऐतिहासिक काल दूसरे के ऐतिहासिक काल को अवश्य ही निश्चित कर सकेगा।

(२२) महाकात्यायन

'अंगुत्तर निकाय' में भगवान् बुद्ध ने कहा था कि "संक्षिप्त प्रदेश का विस्तारपूर्वक अर्थ करनेवाले मेरे जितने भिक्षु श्रावक हैं उनमें महाकात्यायन श्रेष्ठ हैं।"

उज्जयिनी के महाराज चंडप्रद्योत के पुरोहित के लड़के का नाम महा-कात्यायन (या महाकाञ्चायन) था। श्री धर्मानन्द कौशंबी ने 'मालवमयूर' के चैत्र १९८२ के अंक में महाकात्यायन की जीवनी लिखी है।

कांचन अपने गोत्रनाम 'कात्यायन' से प्रसिद्ध हुए हैं। कहते हैं कि उनके शरीर की कान्ति सोने की होने के कारण उनका नाम 'कांचन' पड़ा था।

महाराज चण्डप्रद्योत बुद्ध-दर्शन के लिए अतीव उत्सुक थे क्योंकि उन दिनों सर्वत्र बुद्ध भगवान् की कीर्ति फैल रही थी।

उन्होंने बुद्ध भगवान् को बुलाने के लिए महाकात्यायन को प्रव्रज्या संन्यास लेने के लिए अनुमति दी। चुने हुए सात मनुष्यों को लेकर महाकात्यायन बुद्ध के पास आया और धर्मोपदेश श्रवण करके अपने सात साथियों के साथ अर्हतपद को प्राप्त हुआ।

भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्यों में महाकात्यायन की गणना है। परन्तु किसी कारणवश भगवान् बुद्ध उज्जयिनी नहीं आ सके। महाकात्यायन को उज्जयिनी वापिस आने की आज्ञा मिलने पर वह उज्जयिनी चले आये। महाराज चण्डप्रद्योत ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया।

रास्ते में 'तेल एनालि' नामक शहर में इन लोगों को कोई भिक्षा नहीं मिली थी। यह सुनकर एक व्यापारी की दरिद्र कन्या को बड़ा दुःख हुआ। उसके सौन्दर्य की और लम्बे केशों की शहर में बड़ी ख्याति थी। एक धनिक की कन्या अल्पकेशा थी। वह दरिद्र कन्या के केशों को एक सहस्र कार्षापण में लेना चाहती थी। परन्तु स्वाभाविक सौन्दर्य की वस्तु होने के कारण उसने केश नहीं बेचे।

जब महाकात्यायन के सदृश भिक्षु को शहर में भिक्षा न मिलने की बात सुनी तो उस दरिद्र कन्या ने अपने केश काटकर दासी को बेचने को दे दिये। दासी जब धनिक कन्या के पास लाई तो उसने केवल आठ कार्षापण ही दिये। इन आठ कार्षापण को लेकर शहर के नाम बचाने के लिए उस दरिद्र कन्या ने महाकात्यायनादि को भिक्षा का प्रबन्ध किया था।

जब महाराज चण्डप्रद्योत ने यह कथा सुनी तो मंत्री को भेजकर उस दरिद्र कन्या को बुलाया और अपनी पटरानी बनाया। इस रानी से चण्डप्रद्योत को पुत्र हुआ। इस कन्या के पिता का नाम 'गोपालक' था। महाराज चण्डप्रद्योत ने अपने पुत्र का नाम भी गोपालक रखा। इस तरह महाकात्यायन के प्रभाव से एक दरिद्र कन्या उज्जैन की पटरानी हुई थी।

इस रानी का नाम ही 'गोपाल माता देवी' पड़ गया था। इसने फिर 'कांचन-वनोद्यान' में महाकात्यायन के लिए एक विहार बनवाया। परन्तु बुद्ध-दर्शन सुलभ होने के कारण कात्यायन अधिकतर गंगा-यमुना प्रदेश में चले जाते थे।

'मज्झिमनिकाय' के 'मधुपिंडक', 'महाकज्जान' 'भद्देकरन्त' और 'उद्देस विभंग' इन सुत्तों में महाकात्यायन ने भगवान् बुद्ध के संक्षिप्त उपदेश का अर्थ विस्तार-पूर्वक लिखा है। 'मधुरिय सुत्त' में मथुरा के राजा अवन्तिनाथ को कात्यायन बुद्ध भगवान् की शरण में किस प्रकार ले आए इसका वर्णन है।

डाक्टर वितरनित्ज के मत से 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेश' भी महाकात्यायन के बनाय हुए बताये जाते हैं। 'पेटकोपदेश' में 'पिटकों' के विद्यार्थियों को आदेश दिये गये हैं।

(२३) इसिदासी

"परमत्थदीपनी" में लिखा है कि उज्जैन के उत्तम कुल के पवित्र विभव-सम्पन्न नाम के सेठ के घर में इसिदासी ने जन्म लिया था। उसने इसिदासी का ब्याह एक बड़े अच्छे कुल के सेठ के लड़के से किया। इसिदासी अत्यन्त पतिव्रता रही परन्तु पति ने घृणा करके उसका त्याग किया। सास और श्वसुर के अनुरोध से इसिदासी फिर उज्जैन पिता के पास रहने लगी। पिता ने उसका ब्याह फिर किसी अन्य पुरुष के साथ कर दिया परन्तु दासीभाव से रहते हुए भी इसिदासी वहाँ से भी निकाली गई। तीसरी शादी के अनन्तर भी वही हाल हुआ। उसके अनन्तर संसार त्याग और प्रवाजिका की ओर इसिदासी की प्रवृत्ति हुई। बहु-श्रुत शील सम्पन्न थेरी जिनदत्ता के आगमन पर इसिदासी ने बौद्धधर्म में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की। पिता ने स्नेहवश पहले तो रोकने का प्रयत्न किया परन्तु दृढ़ संकल्प देखकर उसे निर्वाण प्राप्त करने का आदेश दिया। संन्यासिनी (थेरी) होकर सारी विद्याओं में पारंगत होकर उस काल की प्रमुख बौद्ध थेरियों में इसिदासी की गणना हुई। 'थेरीगाथा' में इसिदासी की सुन्दर पाली कविता (रचना) दी हुई है। उस कविता में इसिदासी ने अपने पूर्वजन्मों का विस्तृत हाल दिया है, जिसके कारण इस जन्म में उसको सच्चरित्र होने पर भी अनेक यातनाएँ भोगनी पड़ी थीं।

(२४ से २६) अभय, अभयमाता और अभयत्थेरी

श्रीवात्सायन ने अपने कामसूत्र में लिखा है कि उज्जयिनी की वेश्याएँ भी आर्यप्रायः और पवित्र थीं।

आर्यप्रायाः शुचयः आवन्तिकयः।

चारुदत्त नाटक में पवित्र वेश्याओं में अग्रिणी 'वसन्तसेना' का नाम आज सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुका है। बौद्धकाल में ऐसी ही वेश्या पद्मावती के नाम से उज्जैन में रहती थी। धम्मदास ने 'परमत्थदीपनी' में इसको 'नगर-शोभनी' लिखा है। राजा बिम्बिसार ने उसके रूप, गुण और सम्पत्ति के विषय में बहुत सुना था। उस पर मोहित होकर राजा ने पुरोहित से उज्जैन यात्रा के प्रबन्ध करने के लिए कहा। पुरोहित ने कुम्भीर नाम के यक्ष को बुलाया और कुम्भीर राजा को उज्जैन ले आया। राजा ने पद्मावती के साथ संभोग किया और उसके कुक्ष में गर्भ देखकर उसको यह कहते हुए अपनी मुद्रिका दी कि अगर

तेरे पुत्र उत्पन्न हो तो मेरे पास ले आना। पुत्र होने पर पद्मावती ने उसका नाम अभय रखा। और सात वर्ष की अवस्था होने पर राजा के पास ले गई। राजा अभय को देखकर पुत्र-प्रेम से विह्वल हो गया और राजगृह में बड़े मान-सत्कार से पालन-पोषण किया। अभय बड़ा होने पर बौद्ध भिक्षु हुआ। उसकी माता ने भी पुत्र के मुख से बौद्धधर्म सुनकर संन्यास ग्रहण किया, और अभयमाता के नाम से प्रसिद्धि पाई। आत्मदृष्टि लाभ करके अरहत का परमपद प्राप्त किया।

अभयमाता के साथ ही उनकी सखी अभयत्थेरि ने भी संन्यास ग्रहण किया। अभयत्थेरि ने उज्जैन के उत्तम कुल में जन्म ग्रहण किया था। और अभयमाता के साथ अन्तिम दिवस राजगृह में बिताये। दोनों की रचनाएँ थेरीगाथा में दी हुई हैं। अभयत्थेरि ने बुद्ध के दर्शन प्राप्त करके अरहत पद प्राप्त किया।

(२७) उबट

उबट ने शौनक के ऋक्प्रतिशाख्य पर भाष्य लिखा था और अवन्तिका (उज्जैनी) में शुक्ल यजुर्वेद पर मंत्रभाष्य लिखा था। यह मंत्रभाष्य राजा भोज के समय में लिखा गया था, और इसमें अपूर्व विद्वत्ता प्रदर्शित की गई है।

संवत् १७७९ (सन् १७२३ ई०) में श्री भीमसेन दीक्षित ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर सुधोदधि या सुधासागर नाम की टिप्पणी में यह लिखा था कि मम्मट के ही भाई कैयट और उबट (औवट) थे। मम्मट ने ही अपने भाइयों को शिक्षा दी थी जिनमें से कैयट ने पतञ्जलि के महाभाष्य पर "प्रदीप" नाम की व्याख्या लिखकर प्रसिद्धि पाई और उबट ने वेद पर मंत्रभाष्य लिखकर प्रसिद्धि पाई थी।

श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो।
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः॥

थियोडोर औफ्रेक्ट ने 'कैटेलोगस कैटेलोगोरम्' के प्रथम भाग पृष्ठ ४३२ पर पं० भीमसेन के इस कथन को मिथ्या बतलाया था। औफ्रेक्ट का समर्थन करते हुए श्रीयुत् प्रोफेसर काणे और डॉक्टर डे का भी यही मत है। 'साहित्य-दर्पण' की अँगरेजी भूमिका में प्रोफेसर काणे ने तो यह भी लिखा है कि मम्मट, कैयट, उबट के नामों के नादसाम्य के ही कारण तीनों के भाई होने की कथा चल निकली थी। वास्तव में यह कथा सही नहीं है।

प्रोफेसर ए० बी० गजेन्द्रगड़कर ने 'काव्यप्रकाश' की अँगरेजी भूमिका में इन मतों का खण्डन करते हुए पं० भीमसेन के मत का समर्थन किया है। उनका तर्क यह है कि तीनों नाम विशेषतः काश्मीरी हैं। अल्लट, अद्भट, उबट, औवट, कैयट, जैयट, भल्लट, रुद्रट, लोल्लट—सभी काश्मीरी नामकरण सूचित करते हैं।

कैयट ने अपने पिता का नाम जैयट लिखा है यथा—

महाभाष्यार्णवावारपारिणि विवृतिप्लवम्।
यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जयटात्मजः॥

उबट ने अपने मंत्रभाष्य में लिखा है—

ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्।
मंत्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राज्यं प्रशासति॥
आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मंत्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति॥

यहाँ पर स्पष्टतः उबट ने अपने पिता का नाम वज्रट लिखा है। प्रश्न यह है कि क्या वजूट और जैयट एक ही थे?

लन्दन में इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की सूची जूलियस ऐगेलिंग ने तैयार की थी। भाग १ पृष्ठ २९ पर वाजसनेयी-संहिता पर उबट के मंत्रभाष्य की दो प्रतिलिपि बताई गई हैं (नं० १८६ व १८७)। इन पर जो श्लोक लिखे पाये गये हैं उनमें एक पर भाष्यकार के पिता का नाम वजूट और दूसरे पर जैयट लिखा है। श्लोक ये हैं:—

(१) आनन्दपुरवास्तव्यजय्यटाख्यस्य सूनुना।
उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥

(२) आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मंत्रभाष्यमिदं क्लृप्तं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥

सम्भव है जैयट और वजूट एक ही हों। और मम्मट, कैयट, उबट भाई ही हों। मम्मट ने काव्यप्रकाश में उदात्त अलंकार के उदाहरण में राजा भोज के दान की भी अत्यधिक प्रशंसा की ह। इससे भी पं० भीमसेन दीक्षित का मत सही प्रतीत होता है। क्योंकि यह प्रशंसा मम्मट ने अपने भाई उबट से सुनी होगी जो राजा भोज के आश्रय में रहते थे।

सारांश यह कि तीनों भाई काश्मीर के आनन्दपुर ग्राम के रहनेवाले थे। काशी में विद्याध्ययन करने के अनन्तर उबट ने उज्जैन में निवास किया और यहीं मंत्रभाष्य लिखकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। साहित्याचार्य पंडित विश्वेश्वरनाथ रेउ का यह मत कि उबट गुजरात में आनन्दपुर के रहनेवाले थे और वहाँ से उज्जैन चले आये थे, सही नहीं है। आनन्दपुर काश्मीर के अन्तर्गत था, और उबट काश्मीर से ही आये थे।

(२८) स्वामी जदरूप

मुगल-काल में प्राचीन उज्जयिनी के गौरव का स्मरण दिलानेवाली स्वामी जदरूप का नाम मुगल बादशाहों के इतिहास में कई बार आया है।

जहाँगीर ने अपने "तुजुक जहाँगीरी" में लिखा है कि उज्जैन के तपस्वी जदरूप का नाम उन्होंने बहुत सुना था। और जदरूप को आगरा बुलाने की इच्छा थी; परन्तु मार्ग-कष्ट देखकर उनको नहीं बुलाया गया। मांडू यात्रा के समय जब वह फरवरी १६१७ में कालियादह महल उज्जैन में ठहरे थे तो जदरूप से मिलना उचित समझा गया। बादशाह जहाँगीर क्षिप्रा नदी में नाव लेकर गये और नाव छोड़कर लगभग ४५० गज (।। कोस) क्षिप्रा के तट से उनको पैदल चलना पड़ा। एक पहाड़ी के एक किनारे पर एक गुफा थी जिसमें जदरूप रहते थे। इस गुफा को बादशाह जहाँगीर ने एक छोटा छिद्र लिखा है। गुफा का दरवाजा एक गज ऊँचा और केवल १० गिरह चौड़ा था। इस दरवाजे से उस स्थान तक जहाँ स्वयं बैठते थे २ गज की लम्बाई थी। १ गज ३ गिरह की उँचाई थी। स्वामी जदरूप जिस छिद्र में बैठकर तपस्या किया करते थे वह केवल ५।। गिरह लम्बा और ३।। गिरह चौड़ा था। न वहाँ कोई चटाई थी न कोई आसन। न उनके बदन पर कुछ कपड़ा ही था। एक लँगोटी लगाये बारह मास वह तपस्या में लगे रहते थे। दिन में दो बार स्नान करते थे और उज्जैन नगर में दिन में एक बार भिक्षा लेने जाते थे। वह भी भिक्षा चुने हुए केवल सात ब्राह्मणों के घर में से किन्हीं तीन घरों से नित्यप्रति किया करते थे। इन सात घरों के ब्राह्मण धार्मिक, सन्तोषी गृहस्थ थे। परन्तु जिस घर में अशौच या रजस्वला स्त्री होती उसमें से भिक्षा नहीं लेते थे। तीनों घरों में से कुल भिक्षा मिलाकर इतनी होती थी कि केवल पाँच ग्रास में निगल सकें। इसको वह चबाते इसलिए नहीं थे कि उसमें दाँत लगकर कहीं अन्न का स्वाद न आ जाय।

बादशाह जहाँगीर ने आगे लिखा है कि स्वामी जदरूप मनुष्यों से बहुत कम मिला करते थे और वह स्थान भी ऐसा था कि बहुत दुबले-पतले मनुष्य भी बहुत कठिनता से उनके पास पहुँचते होंगे। परन्तु जदरूप वेदान्त में पारंगत थे और उनकी अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण बहुत से मनुष्य उनके दर्शन को जाया करते थे।

पहले दिन स्वामी जदरूप से जहाँगीर ने लगभग ६ घड़ी (ढाई घण्टे) बात की। उसके बाद बादशाह जहाँगीर हाथी पर सवार होकर उज्जैन शहर में से गुजरे और शहर में से गुजरने पर ३,५००) साढ़े तीन हजार रुपयों की

मूठें लुटाईं और पौने दो कोस चलकर दाऊदखेड़ा पहुँचे जहाँ बादशाही तम्बू वगैरह पड़े हुए थे। जहाँगीर ने लिखा है फिर तीसरे दिन स्वामी से मिलने की इच्छा होने पर दोपहर को फिर उनके यहाँ पहुँचे और ६ घड़ी उनके सत्संग में बिताई और सन्ध्या के समय महल में वापिस आए। इस दिन स्वामी जदरूप ने उनको अच्छा उपदेश दिया।

जहाँगीर ने यह भी लिखा है कि असीरगढ़ फतह करने पर शहनशाह अकबर ने भी (१६०१ ई० में) उज्जैन में आकर जदरूप के दर्शन किये थे।

सर टामस रो के कथनानुसार बादशाह जहाँगीर से मुलाकात के समय जदरूप की अवस्था ३०० (तीन सौ) वर्ष की थी। जर्मन यात्री हैनमरिक वौन पोजर ने लिखा है कि स्वामी जदरूप २४ घण्टे में केवल उतना अन्न खाते थे जितना पाँच उँगलियों में आ सकता था। मआसिरुल उमरा और इकबाल-नामे में इनका नाम अछ्दूप लिखा है।

कहा जाता है कि बादशाह के हुक्म से स्वामी जदरूप का अजमेर में चित्र बनाया गया था, जिसमें वह दुबले पतले दिखलाये गये हैं। परन्तु तपस्या और योग के कारण उनके चेहरे की कान्ति अत्यन्त दमक रही है। डॉ० कुमार स्वामी (J. R. A. S. July, 1919) ने इस चित्र को, मुगलकालीन कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में से बतलाया है।

सर टॉमस रो ने यह भी लिखा है कि बहुत-से शासन-सम्बन्धी प्रश्नों में भी बादशाह कभी कभी स्वामी जदरूप से सम्मति माँगते थे। प्राचीन उज्जैन का गौरव मुगलकाल में स्वामी जदरूप ने सुरक्षित रक्खा था। परन्तु यह खेद का विषय है कि जिस महात्मा के दर्शन को भारत के मुगल-सम्राट् अकबर और जहाँगीर आये हों, जिसका वर्णन जर्मन और अँगरेज यात्रियों ने किया हो, और जिसकी गुफा की लम्बाई, चौड़ाई, उँचाई तक लिखने में, मुगल सम्राट् ने गौरव माना हो उसी महात्मा की गुफा के नामोनिशान का आज कुछ पता नहीं है।
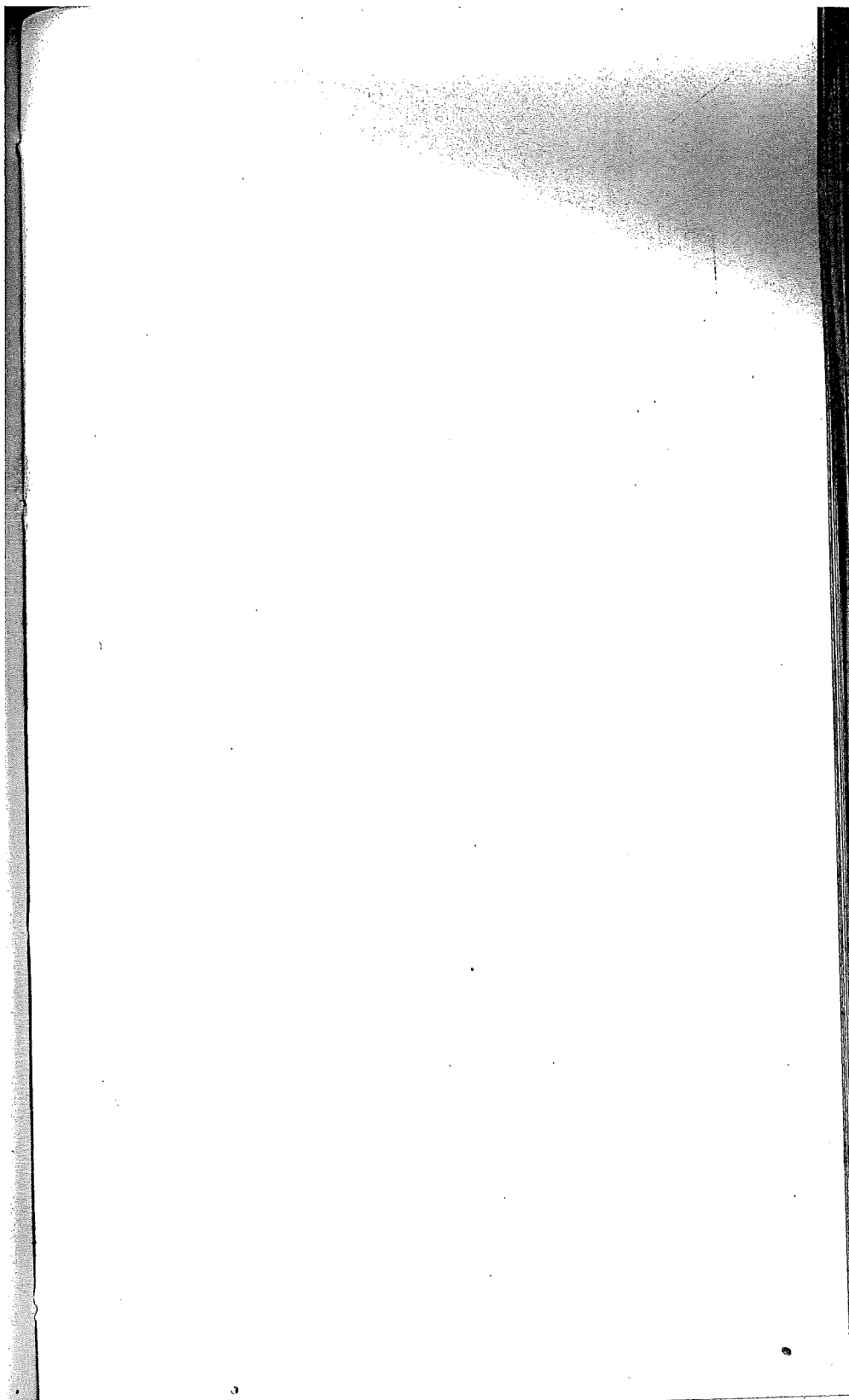
वेधशाला
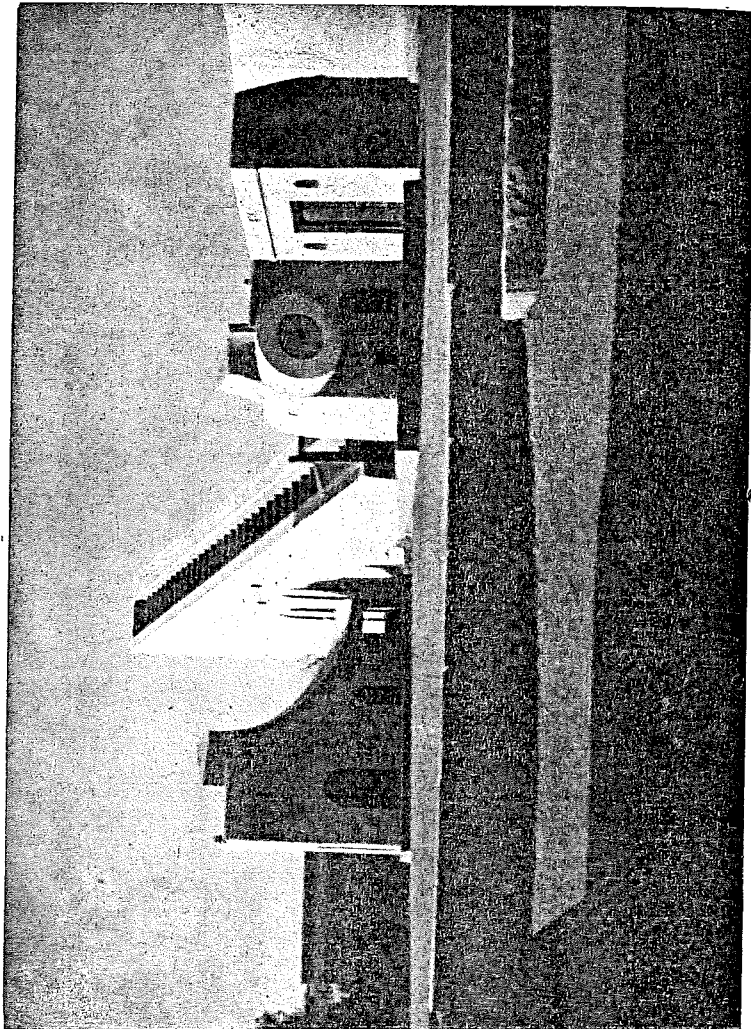
१३—उज्जैन वेधशाला के निर्माणकर्त्ता

सत्रहवीं शताब्दी को योरोप में "वेधशालाओं का युग" कहा जाता है। यूरानीवोर्ग में १५७६ में, लीदां में १६३२ में; पैरिस में १६६७ में, और ग्रीनविच में १६७५ में वेधशालाएँ स्थापित हुईं। बर्लिन वेधशाला १७०५ में, सेंट पीटर्सवर्ग वेधशाला १७२५ में और उपसला वेधशाला १७३० में निर्माण हुई।

योरोप के इस युग का प्रभाव भारतवर्ष में भी पड़ा होगा। यह निश्चित करना कठिन है कि यह प्रभाव किधर से और कैसे आया होगा। १६५८ से १७०७ तक भारतवर्ष में औरंगजेब का काल रहा, जिसमें मुगल-साम्राज्य का विस्तार तो पराकाष्ठा पर पहुँच गया था; किन्तु संस्कृति, साहित्य एवं ललितकला का निरन्तर ह्रास होता रहा। औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त मुगल-साम्राज्य का अधःपतन प्रारम्भ हुआ। जाट, सिख और मराठे दिल्ली बादशाहत के विरुद्ध खड़े हुए; और बादशाह के महल विलासिता एवं षड्यंत्र के केन्द्र बन जाने के कारण प्रान्तों का शासन एकदम ढीला पड़ गया। दिल्ली में सैयद भाइयों का जमाना बड़े जोरों से चलता रहा। शाहनशाह की गद्दी पर कभी कोई बैठाला जाता था, कभी कोई। १७०७ से १७१९ तक १२ साल में बहादुरशाह, जहाँदारशाह, फर्रुखसियर और महमदशाह एक के बाद दूसरे बैठते रहे। प्रान्तों में सूबेदार नित्य-प्रति बदले जाते थे। अशान्ति के काले डरावने बादल सर्वत्र छाये हुए थे। ऐसे युग में भी दिल्ली, मथुरा, काशी, जयपुर और उज्जैन में बड़ी-बड़ी वेधशालाएँ स्थापित करना सवाई महाराज जयसिंह द्वितीय का ही कार्य था।

महाराज जयसिंह द्वितीय

सन् १६८६ में न्यूटन ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ Principia सम्पूर्ण किया और उसी वर्ष जयसिंहजी का जन्म हुआ था। सन् १६९९ में वह आमेर की गद्दी पर बैठे और शाहजादों की लड़ाई में पहले बीदरवख्त की तरफदारी करने और जाजऊ में महमद आजम के साथ मिल जाने पर आमेर की गद्दी उनके हाथ से निकल गई। राज्य प्राप्त करने में कुछ काल लगा। सन् १७१३ में पहले-पहल मालवा के शासक नियुक्त किये गये। सन् १७१६ में वह चूड़ामणि जाट के विरुद्ध भेजे गये और आगरा के सूबेदार नियुक्त हुए। सन् १७२२ में मालवा के शासक नियुक्त हुए; किन्तु थोड़े दिन बाद फिर आगरा बुलाये

गये। जहाँ उन्होंने चूड़ामणि को परास्त किया। १७२९ में फिर मालवा गये और पेशवा को मालवा में प्रवेश करने को उन्होंने प्रोत्साहन दिया। वह फलस्वरूप वहाँ से हटाये गये। परन्तु १७३२ में फिर वहीं भेजे गये। १७३६ में धौलपुर की सन्धि के अनुसार मालवे में पेशवा का प्रभुत्व हो गया। सन् १७४३ में उनका देहान्त हुआ और कर्नल टाड के शब्दों में "उनकी चिता पर उनके साथ, उनकी रानियाँ और विज्ञान भी जलकर राख हो गये।"

उथल-पुथल के एक बड़े जमाने में, षड्यंत्र, युद्ध एवं राजकार्य में भाग लेते रहने पर भी जयसिंहजी ने विद्या, विज्ञान, साहित्य एवं शिल्पकला में अत्यन्त रुचि दिखलाई। अपने राज्य की नई राजधानी 'जयनगर' (वर्तमान जयपुर) उन्होंने ही स्थापित की और उत्तरी भारत में पाँच वेधशालाएँ बनवाकर "उन्होंने ऐसे स्मारक खड़े किये जो भारतीय इतिहास के अन्धकारमय युग में उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण कर रहे हैं।"

उनके सहायक विद्वान्

जयसिंहजी ने योरोप और मध्य एशिया की पुस्तकों एवं सारिणियों को इकट्ठा करके उनका अनुवाद ही नहीं कराया था प्रत्युत योरोप, मध्य एशिया एवं अन्य देशों में उन्होंने कई विद्वानों को भेजा भी था। महमद शरीफ को दक्षिण ध्रुव की तरफ और महमद मेहदी को अत्यन्त दूरस्थ द्वीपों की ओर भेजा गया था। पादरी मैन्यूएल के साथ कई विद्वानों को योरोप भेजा था। फादर फिगरेडो को पोर्चगाल भेजा गया।

तीफनतेलर ने लिखा है कि जर्मनी से आन्द्रे स्त्रोवेल को बुलाकर जयसिंह जी ने अपने यहाँ ही रखा था।

योरोप के एक दूसरे प्रसिद्ध ज्योतिषी एवं डॉक्टर "डान पीदरो दि सिलवा" भी जयसिंहजी के साथ जयपुर में ही रहते थे।

चन्द्रनगर से कई फ्रेंच पादरी १७३२ से १७३४ में जयपुर आये थे और उन्होंने दिल्ली और जयपुर वेधशालाओं का निरीक्षण किया था। सन् १७३२ के एक दिसम्बर के सूर्य-ग्रहण के बाद फादर बूदिया ने लिखा था कि पैरिस और जयपुर में ४ घंटा ५५ मिनट ३४ सेकण्ड का भेद है।

१७२८-१७२९ के गजट योरोप में महाराज जयसिंहजी की पर्याप्त प्रशंसा की गई थी।

हिन्दू पंडितों में, जयसिंहजी के साथ, उज्जैन के प्रसिद्ध पंडित-प्रवर पं० जगन्नाथजी थे। उन्होंने संस्कृत में "सम्राट् सिद्धान्त" लिखा था। ग्रंथ की भूमिका में लिखा है कि यह ग्रंथ अरबी भाषा के "मीजास्ती" का भावानुवाद है और महाराजा जयसिंहजी की तुष्टि के लिए लिखा गया है। वास्तव में

यह ग्रंथ टालमी के "सिन्टेक्सिस" अथवा "अलमैजेस्ट" के अरबी अनुवाद का भावानुवाद है। हण्टर ने १७९९ में लिखा था कि उज्जैन में पं० जगन्नाथ के नाती के अधिकार में यूक्लिड के अनुवाद के अतिरिक्त त्रिकोण मिति, शंकु-परिच्छेद एवं लघुगणकीय गणना-सम्बन्धी ऊँची पुस्तकों के संस्कृत अनुवाद भी थे। लघुगणकीय ज्या (लौगेरिथमिक साइन और टैंजेन्ट) और स्पर्शज्या की सारिणी भी उनके पास थीं।

जिज महमदशाही

ज्योतिष गणित की नवीन सारिणी, जयसिंहजी के आदेशानुसार बनाई गई और तत्कालीन सम्राट् महम्मदशाह के नाम पर उनका नामकरण किया गया। प्रथम दो परिच्छेद उलुगबेग की बनाई हुई समरकन्द वेधशाला की सारिणी के अनुसार हैं; किन्तु तीसरे परिच्छेद में २९७ वर्ष के अनन्तर नक्षत्रों की स्थिति में जो भेद हुआ उसका उल्लेख है। उलुगबेग, तैमूरलंग का नाती था और उसने सन् १४३७ में समरकन्द में बड़ी भारी वेधशाला बनवाई थी।

'जिज महमदशाही' की भूमिका पढ़ने पर पता चलता है कि उलुगबेग के प्रसिद्ध ज्योतिषी जमशेत काशी के अतिरिक्त अन्य मुस्लिम नजमियों की बनाई हुई सारिणियों का भी जयसिंह जी ने अध्ययन किया था, जिसमें मराग वेधशाला के नसीरुद्दीन तूसी और शीराज के अली गुर्गानी की सारिणी अग्रगण्य हैं।

योरोप की सारिणियों में La Hire की Tabulae Astronomicae और फ्लेमस्टीड की Historia Coelestis Britannica का भी उल्लेख इसमें मिलता है। प्रथम पुस्तक फ्रांस में सन् १७०२ ई० में और दूसरी पुस्तक ब्रिटेन में सन् १७१२ ई० में प्रकाशित हुई थी।

इस भूमिका से यह भी पता चलता है कि पीतल के कुछ यंत्र बनवाये गये थे; किन्तु जयसिंहजी को कुछ सन्तोष नहीं हुआ; इसलिए जयसिंहजी ने पत्थर और चूना के बड़े-बड़े यंत्र—जयप्रकाश, रामयंत्र और सम्राट् यंत्र—दिल्ली के "जन्तर मन्तर" में बनवाये और उनके समर्थन के हेतु—जयपुर, मथुरा, काशी और उज्जैन में भी वेधशालाएँ स्थापित कीं।

उज्जैन की वेधशाला

उज्जैन की वेधशाला कब निर्माण हुई यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सन् १७२२ में प्रथम बार थोड़े दिन जयसिंहजी मालवा के सूबेदार रहे थे। सन् १७२९ में दुबारा और सन् १७३२ में फिर अन्तिम समय रहे थे। दिल्ली का 'जन्तर मन्तर' सन् १७२४ में निर्माण होना बताया

जाता है। जयपुर की वेधशाला सन् १७३४ ई० में निर्माण हुई। अनुमान यह है कि उज्जैन की वेधशाला सन् १७२८ से १७३४ तक निर्माण की गई है।

अर्वाचीन उज्जैन नगरी के दक्षिण-पश्चिम की ओर जयसिंहपुरा में, क्षिप्रा नदी के उत्तरीय तट पर, वाटरवर्क्स से आध मील पश्चिम की तरफ यह वेधशाला बनी हुई है। क्षिप्रा नदी वेधशाला की तरफ काट करती चली आ रही है और कुछ काल के अनन्तर इस काट को रोकने के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ेगा। स्वनामधन्य स्वर्गीय माधव महाराज ने सन् १९२३ में जयपुर से पं० गोकुलचन्द्रजी को बुलवाकर वेधशाला का पुनर्जीवन कराया था। श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज ने भी वेधशाला को सुरक्षित बनाने में विशेष ध्यान दिया था।

इस वेधशाला में मुख्य यंत्र चार हैं, जिनमें सबसे बड़ा 'सम्राट् यंत्र' है। इसके मध्य में लगभग ४८ फुट लम्बी व २२ फुट ऊँची त्रिकोणाकार दीवाल है। यह दक्षिण से उत्तर की तरफ तिरछी-धरातल से अक्षांशतुल्य २३° १०' का कोण बनाती हुई बनवाई गई है। उज्जैन का अक्षांश २३° १०' १८'' उत्तर है। सम्राट् यंत्र से रवि-चन्द्रादि ग्रहों के नतकाल व क्रान्ति का ज्ञान तथा छाया द्वारा समय का ज्ञान होता है।

'नाडीवलय यंत्र' से यह मालूम होता है कि वेध्य ग्रह दक्षिण गोलार्ध में है या उत्तर गोलार्ध में। भित्तियंत्र से मध्यकालीन रवि के नतांश मालूम होते हैं। ग्रहों की वक्रीमार्गी गति का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

सन् १९३९ से यहाँ से अँगरेजी में एक पंचांग (Ephemeris) भी प्रकाशित हो रहा है, जिसमें ग्रहों का दैनिक सायन, स्पष्टग्रही व तिथियों का उल्लेख होता है।

अन्य वेधशालाएँ

'जिज महमदशाही' की भूमिका से पता चलता है कि उपरोक्त पाँच स्थानों के अतिरिक्त भी अन्य स्थानों पर 'मान मन्दिर' अथवा 'वेधशालाएँ' निर्माण कराने का जयसिंहजी का विचार था। यह कहना कठिन है कि वह विचार कहाँ तक कार्यरूप में परिणत हो सका। बंगाल और पंजाब में एक दो जीर्ण-शीर्ण खँडहर निकले थे, जो जयसिंहजी की निर्मित वेधशाला बताये जाते थे। उपरोक्त पाँच वेधशालाओं में, राज्यप्रासाद क्षेत्र के भीतर होने के कारण, जयपुर वेधशाला बहुत सुरक्षित रही।

काशी का 'मान मन्दिर' राजा मानसिंह ने बनवाया था। गंगा के पश्चिमी तट पर, मणिकर्णिका घाट पर क्वीन्स कॉलेज से दक्षिण-पूर्व पौने दो मील पर बना हुआ है। इसी मान मन्दिर की ऊपरी मंजिल में जयसिंहजी ने सम्राट्
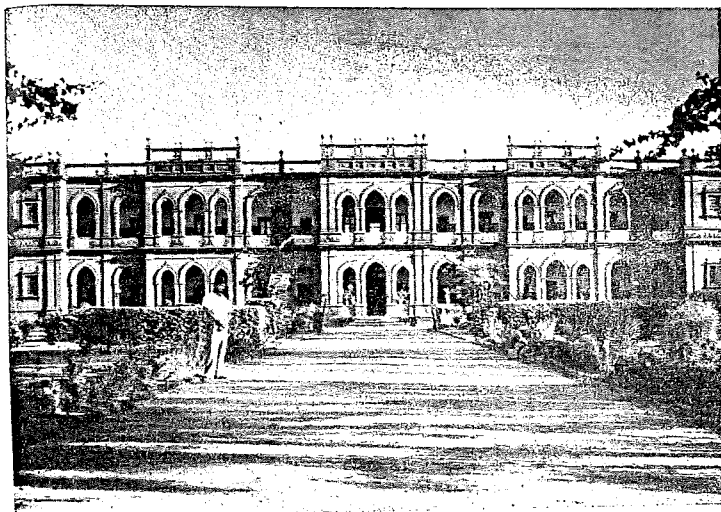
ग्रांड होटल

बोहरों का रोजा

यंत्र, दिगंश यंत्र, नाडीवलय यंत्र और चक्र यंत्र बनवाये थे। यह यंत्र किस वर्ष में निर्मित किये गये इसमें कुछ मतभेद है। १७७७ में बंगाल के कमाण्डर-इन-चीफ सर रौबर्ट बेकर ने लिखा था कि यह वेधशाला अकबर ने बनवाई थी, जो अशुद्ध प्रतीत होता है। विलियम्स ने सन् १७३७ में यह वेधशाला निर्माण होना लिखा है और जी० आर० काये ने भी यही वर्ष ठीक माना है।

मथुरा वेधशाला के चिह्न अवशिष्ट नहीं हैं। राजा मानसिंह ने "कंस का किला" बनवाया था और उसकी छत पर जयसिंह ने वेधशाला बनवाई थी। "मथुरा डिस्ट्रिक्ट ममोइर्स" में ग्राऊज ने लिखा है कि "गदर के कुछ दिन पहले यह इमारत एक ज्योतीप्रसाद ठेकेदार को बेच दी गई थी, जिसने पत्थर और मलवा के लोभ में वेधशाला नष्ट-भ्रष्ट कर दी। मथुरा वेधशाला का जो कुछ पता चलता है केवल तीफनतेलर एवं हंटर के वर्णन से ही चल पाता है।

इन पाँचों वेधशालाओं में आर्य एवं अनार्य, हिन्दू और अहिन्दू ज्योतिष गणित का समन्वय करके जयसिंहजी ने अपना निष्पक्ष एवं सत्य विद्यानुराग प्रदर्शित किया था। किन्तु ग्रहों की दैनिक स्थिति एवं दैनिक गति लेने का कुछ स्थायी प्रबन्ध किया या नहीं इसका कुछ भी पता नहीं चलता। भविष्य में इन वेधशालाओं की सुव्यवस्था बनी रहने का भी कोई प्रबन्ध नहीं किया गया। परिणाम यह हुआ कि जवाहरसिंह के नेतृत्व में दिल्ली के 'जन्तर मन्तर' को जाटों ने तोड़-फोड़ डाला; मथुरा की वेधशाला एक ठेकेदार के हाथों से तहस-नहस हुई, और मराठा सेना के उज्जैन में प्रवेश करने पर दिगंश यंत्र पर छप्पर डालकर मन्दिर की पूजा प्रारम्भ कर दी गई और शेष यंत्रों पर तोपें चढ़ा दी गईं।

आधुनिक यंत्रों का अभाव

एक दूसरी कमी यह भी प्रतीत होती है कि जयसिंह जी का ध्यान दूर-वीक्षण सरीखे आधुनिक यंत्रों पर नहीं गया। योरोप में, जिनमें दिन-प्रतिदिन उन्नति होने के कारण पोटसडैम, पैरिस, और ग्रीनविच की वेधशालाएँ आज अत्यन्त प्रसिद्धि पा रही हैं। कोरी आँख से देखने में और कोरे गणित के सहारे इतने दूरस्थ ग्रहों की स्थिति और गति निकालने में कितनी ही सावधानता से कार्य किया जाय, कुछ-न-कुछ गलती रहने की संभावना बनी ही रहती है। सन् १९३८ में, अमरीका के दो प्रसिद्ध गणितज्ञ ज्योतिषियों ने कोरी आँख से आकाश के तारों को पैंतीस साल तक गिनकर जो सूची बनाई थी उसकी संख्या दस हजार से अधिक नहीं थी। किन्तु साधारण दूरबीन से वही संख्या तैंतीस हजार तीन सौ बयालीस पर पहुँची थी।

दूरबीन से अधिकाधिक दूरी की चीजों को देखने के जो प्रयोग हो रहे हैं उनमें योरोप और अमरीका का करोड़ों रुपया व्यय हो चुका है। अमरीका के कैलीफोर्निया में माउण्ट विल्सन वेधशाला में जो दूरबीन है उसके शीशा (दर्पण) का व्यास सौ (१००) इंच का है, वह शीशा तेरह इंच मोटा है और उसका वजन सवा सौ मन है। उसके बनने में नौ साल लगे और केवल शीशा बनाने में उन्नीस लाख रुपये व्यय हुए। संसार भर में यह सबसे बड़ी दूरबीन थी और इसके द्वारा डेढ़ अरब तारों की फोटो ली जा चुकी है।

साधारण मनुष्यों के लिए यह दूरबीन बहुत बड़ी प्रतीत होती है; किन्तु वैज्ञानिकों की ज्ञान-पिपासा बुझाने को यह दूरबीन भी अपर्याप्त सिद्ध हुई। अमरीका के "अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा बोर्ड" ने एक ऐसी दूरबीन बनाने की योजना स्वीकृत की जिसके शीशे का व्यास २०० इंच का हो और जिसका वजन माउन्ट विल्सन वेधशाला के शीशे के वजन से चौगुना अधिक हो। यह दूरबीन तैयार होकर माउन्ट पैलोमर वेधशाला में हाल में लगाई गई है। इसमें बारह लाख पाउण्ड से भी अधिक व्यय हुआ है। इसके द्वारा ग्रहों की स्थिति का जो निरीक्षण प्रारम्भ हुआ है उससे गणित ज्योतिष में बिलकुल क्रान्ति होने की संभावना है।

दूरवीक्षण यंत्र के अतिरिक्त स्पैक्ट्रोस्कोप और 'इन्टर-फैरो-मेटर' में भी अधिकाधिक उन्नति होती चली जा रही है। कहाँ तो आधुनिक यंत्र एवं दूरबीन से सुसज्जित अमरीका की प्रगतिशील वेधशालाएँ और कहाँ सवाई महाराज जयसिंहजी की बनाई हुई प्राचीन पद्धति पर जहाँ की तहाँ पड़ी हुई भारतीय वेधशालाएँ!!

हमारी आवश्यकता

आजकल नकशों में ग्रीनविच से गुजरती हुई मध्यरेखा अथवा शून्य रेखा मानी गई है। परन्तु हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से लंका से उज्जैन और कुरुक्षेत्र को स्पर्श करती हुई मेरुपर्वत जाती हुई मध्यरेखा अथवा शून्य रेखा मानी गई थी। उज्जैन शून्य रेखा पर होने से उज्जैन वेधशाला का भारतीय ज्योतिष में अत्यधिक महत्त्व है। वराहमिहिर ने उज्जैन में ही अपने अद्भुत प्रयोग किए थे। उज्जैन वेधशाला में एक डेढ़ करोड़ रुपया लगाकर आधुनिक दूरवीक्षण एवं अन्य यंत्रों से सुसज्जित करके अपने प्राचीन गौरव की रक्षा करना भारत शासन का प्रथम कर्त्तव्य है। उज्जैन वेधशाला—मध्य-भारत की ही नहीं—सारे राष्ट्र की निधि है। प्रत्येक गणित एवं ज्योतिष प्रेमी को चाहिए कि केन्द्रीय सरकार का ध्यान उज्जैन वेधशाला की उन्नति करने की ओर आकर्षित करे।

नकशा क्षिप्रा नदी व रेलवे लाइन्स

उज्जैन

स्केल :—१ इंच =४००० फीट

सिद्धवट
कालियादह महल को
जेल भैरवगढ़
मंगलिश्वर
(मंगलनाथ)
भैरवनाथ
गंगाघाट
विक्रमादित्य की
पुरानी उज्जयिनी
नगरी
गोमती कुण्ड
पीर
मत्स्येंद्र
कालिका
कालिकागढ़
भर्तृहरी गुफा
S.S.R.
नदी क्षिप्रा
जीवाजीगंज
विनोद मील
गोपालमन्दिर
चौक
हॉस्पिटल +
स्टेशन भोपाल को
G.I.P.R.
ग्रांड होटल
दत्त का
अखाड़ा
हरसिद्धी
महाकालेश्वर
अगस्तेश्वर
रुद्रसागर
माधव कालेज
घंटाघर
रास्ता पेलेस कोठी
व देवास
B.B. & C.I.R.
क्षिप्रा ब्रिज
वॉटर वर्क्स
ऑब्ज़रवेटरी
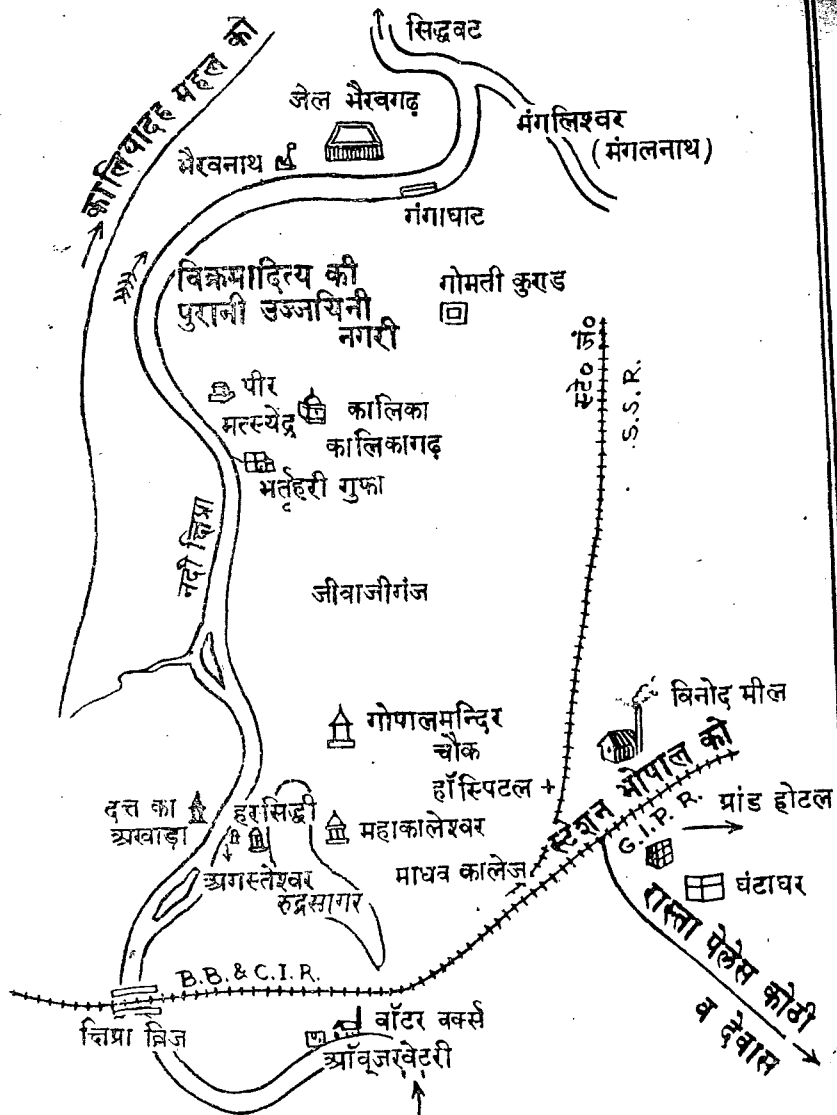
महाराज
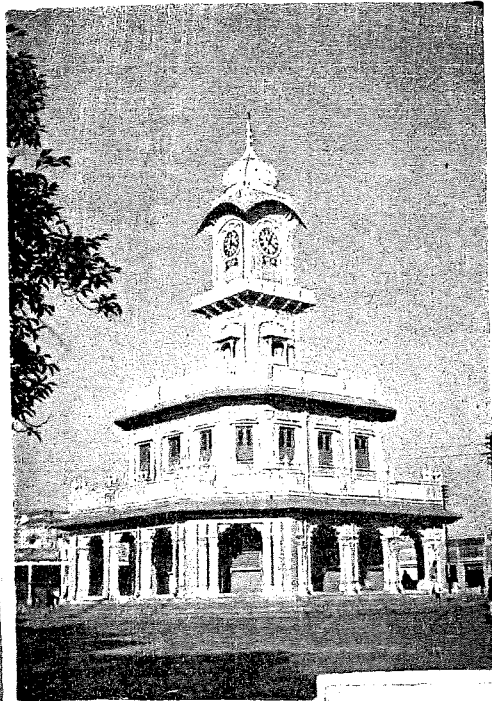
घंटाघर

मौलाना रूमी का मकबरा
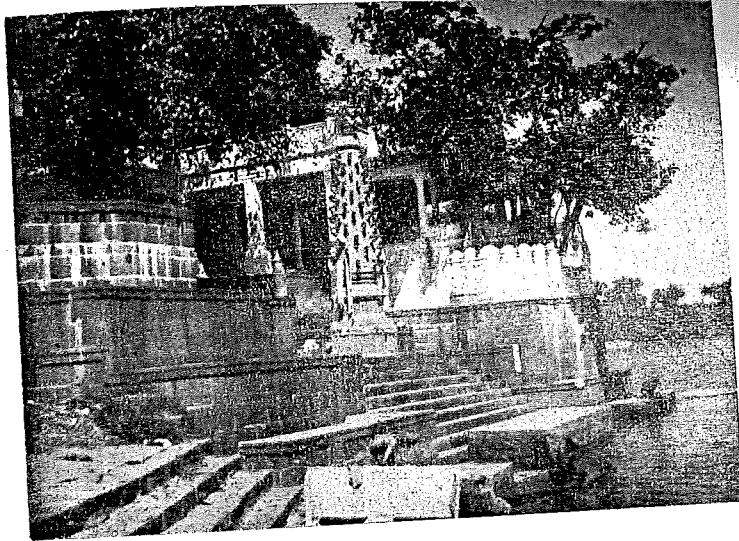
सिद्ध वट
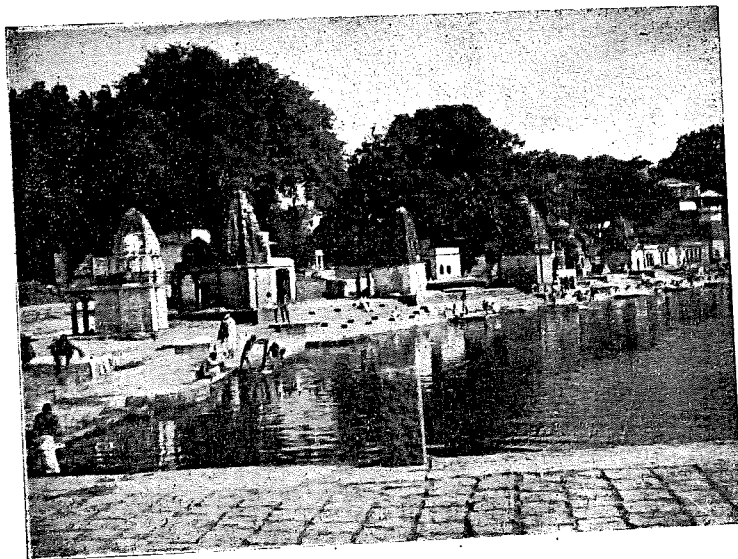
क्षिप्रा का रामघाट
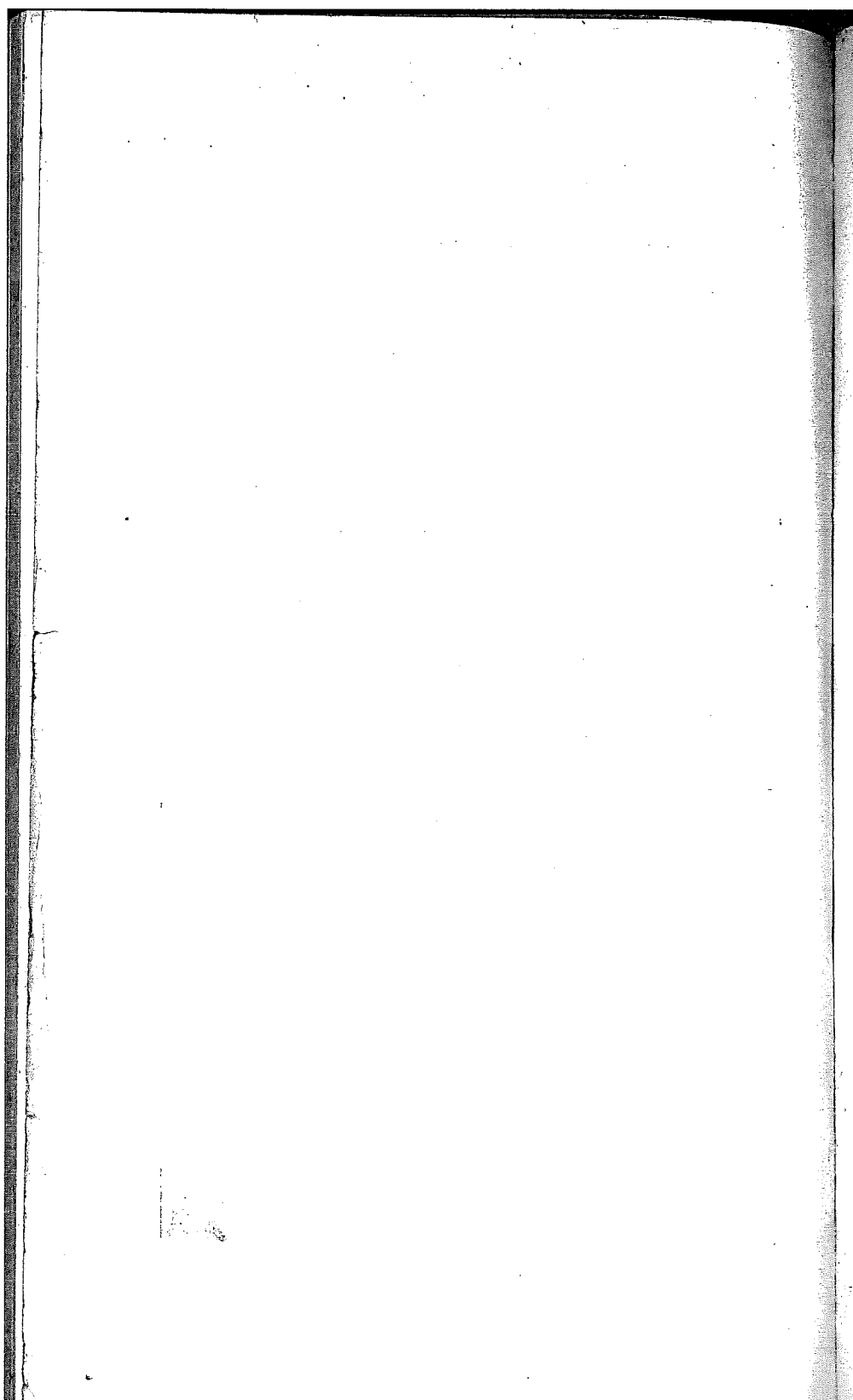
१४—आधुनिक उज्जैन

उज्जैन नगर २३° ११′ उत्तर अक्षांश एवं ७५° ५०′ पूर्व रेखांश पर स्थित है। सिप्रा (क्षिप्रा) नदी के पूर्वीय तट पर बसा हुआ, समुद्र की सतह से १६७९ फीट उँचाई पर है। मालवा का प्रमुख प्राचीन नगर एवं प्राचीन अवन्ति देश की राजधानी होने के कारण इस नगर का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है। मालवा एक विस्तीर्ण पठार-सा है। यह बहुत उर्वर भूमि एवं समशीतोष्ण है। यहाँ की रात्रि शीतल हुआ करती है। आधुनिक नगर से दो मील उत्तर की ओर प्राचीन नगर उज्जयिनी बसा हुआ था जो कभी भूकम्प अथवा क्षिप्रा नदी में बाढ़ आने के कारण तहस-नहस हो गया था। आधुनिक उज्जैन केन्द्रीय रेलपथ की एक शाखा भोपाल-नागदा रेलवे पर स्थित है। भोपाल से एक रेल उज्जैन होती हुई सीधी बड़ौदा जाती है। नागदा से आगरा, मथुरा, दिल्ली और बंबई पश्चिमी रेलवे द्वारा पहुँचाया जा सकता है। रतलाम होकर जावरा, मन्दसौर, नीमच होते हुए अजमेर और राजस्थान को रेलगाड़ी जाती है। भोपाल से झाँसी, ग्वालियर, दिल्ली भी केन्द्रीय रेल-द्वारा मार्ग है। इन्दौर से भी रेल उज्जैन को जाती है और मोटरबस भी चला करती है। यातायात की सुविधा से उज्जैन एक समृद्धिशाली नगर बन गया है। उज्जैन स्टेशन का अभी पुर्ननिर्माण हुआ है और दूसरी मंजिल पर सुन्दर प्रतीक्षालय बने हैं। स्टेशन से पास साख्य राजा धर्मशाला का बड़ा सुन्दर भवन है। जहाँ यात्रियों को बड़ी सुविधाएँ प्राप्त हैं। पास में एक नगरपालिका की सराय है। नगर में कई अच्छी धर्मशालाएँ हैं। एक ग्रांड होटल भी है। आगरा-बंबई सड़क मक्सी होकर जाती है जहाँ से उज्जैन २५ मील पश्चिम को रह जाता है। मक्सी से उज्जैन पक्की सड़क है। उज्जैन नगर की नैसर्गिक शोभा सिप्रा (अथवा क्षिप्रा) नदी के कारण है। सिप्रा म्हऊ छावनी के पास विन्ध्याचल पर्वत से निकलकर १२० मील चलकर फिर चंबल नदी में मिल जाती है। नदी की तीव्र गति होने के कारण 'क्षिप्रा' नाम पड़ा था। उज्जैन में कई स्थल ऐसे हैं जहाँ सिप्रा की शोभा अत्यन्त चित्ताकर्षक हो गई है। जिन पाठकों को यह नैसर्गिक शोभा देखनी है उनको उज्जैन वाटरवर्क्स एवं वेधशाला से प्रथम नदी को देखना चाहिए। तदनन्तर दत्त के अखाड़े के घाट से, फिर मंगलनाथ के घाट से, सिद्धवट से और अन्त में कालियादह महल से नदी की शोभा देखनी चाहिए।

उत्खनन

नगर से दो मील दूर प्राचीन उज्जयिनी की भूमि में संवत् १९९५ वि० में उत्खनन किया गया था। यह उत्खनन तीन स्थानों पर हुआ था। प्रथम वैश्याटेकरी टीले पर। लगभग ५०० फीट के व्यास का यह प्रायः १०० फीट ऊँचा वृत्ताकार टीला है। यहाँ उत्खनन में कोई अधिक महत्त्व की वस्तु नहीं मिली। द्वितीय उत्खनन स्थल कुम्हार टेकरी टीला है जो उण्डासा तालाब के पास है। यहाँ कुछ मुद्राएँ प्राप्त हुईं जो ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी की हैं। यह ढलवाँ मुद्राएँ हैं। एक ओर हाथी है या जँगले से घिरा हुआ वृक्ष है। दूसरी ओर पर्वत या चैत्य का चिन्ह है। इनके अतिरिक्त कुछ मानव अस्थिपिंजर प्राप्त हुए जो प्राग्-ऐतिहासिक काल के बताये जाते हैं। तीसरा स्थल जहाँ उत्खनन हुआ था वह गढ़ है। यहाँ पर गोलाकार कूप निकले जिनमें अनाज रखा जाता होगा। बड़े-बड़े मिट्टी के बर्त्तन, सुराहियाँ, ढक्कन, प्यालें, अजनशलाका, तश्तरियाँ, मिट्टी के खिलौने, हाथीदाँत के सामान, मिट्टी की मुद्राएँ एवं मौर्यकालीन ओपयुक्त पत्थर के टुकड़े भी मिले थे। यह खुदाई बहुत थोड़ी मात्रा में ही हुई थी और प्राचीन उज्जयिनी का पता चलाने के लिए अपर्याप्त थी। हम आशा करते हैं कि भविष्य में विक्रमकालीन उज्जयिनी का पता चलाने के लिए शीघ्र उत्खनन प्रारम्भ किया जावेगा।

जन-संख्या

सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार, उज्जैन नगर की जन-संख्या १,२९,८१७ हैं। इसमें ६८,७६२ पुरुष और ६१,०५५ स्त्रियाँ हैं। धार्मिक भावना की दृष्टि से, ९४,७४४ हिन्दू मतावलंबी, ३०,०८० मुसलमान, ३,८३८ जैन, ५२९ ईसाई, ४६५ सिख, १३७ बौद्ध, १९ पारसी और १० यहूदी हैं। इनमें ५,८०८ विस्थापित लोग भी सम्मिलित हैं। नगर निवासियों में ५,६९९ कृषि कार्य में लगे रहते हैं। यहाँ की भूमि उर्वर एवं शस्य श्यामला है। भोपाल से मालवा तक काली मिट्टी होने के कारण कपास एवं गेहूँ की खेती प्रसिद्ध है। अन्य फसलों में ज्वार, मक्का, चना एवं दालें (विशेषतः अरहर) प्रमुख हैं। जन-संख्या में ५१,५३० अन्य उत्पादन कार्य में लगे रहते हैं। इसके अतिरिक्त व्यापार वाणिज्य में २७,३३०; यातायात में ७,०२२ एवं अन्य नौकरियों से ३८,२३६ लोग अपनी जीविका चलाते हैं।

उद्योग एवं धन्धे

यातायात की सुविधा होने के कारण उज्जैन तीर्थस्थान ही नहीं, मालवा का प्रमुख व्यापार-स्थल भी है। व्यापार की दृष्टि से, मालवा में, इन्दौर को
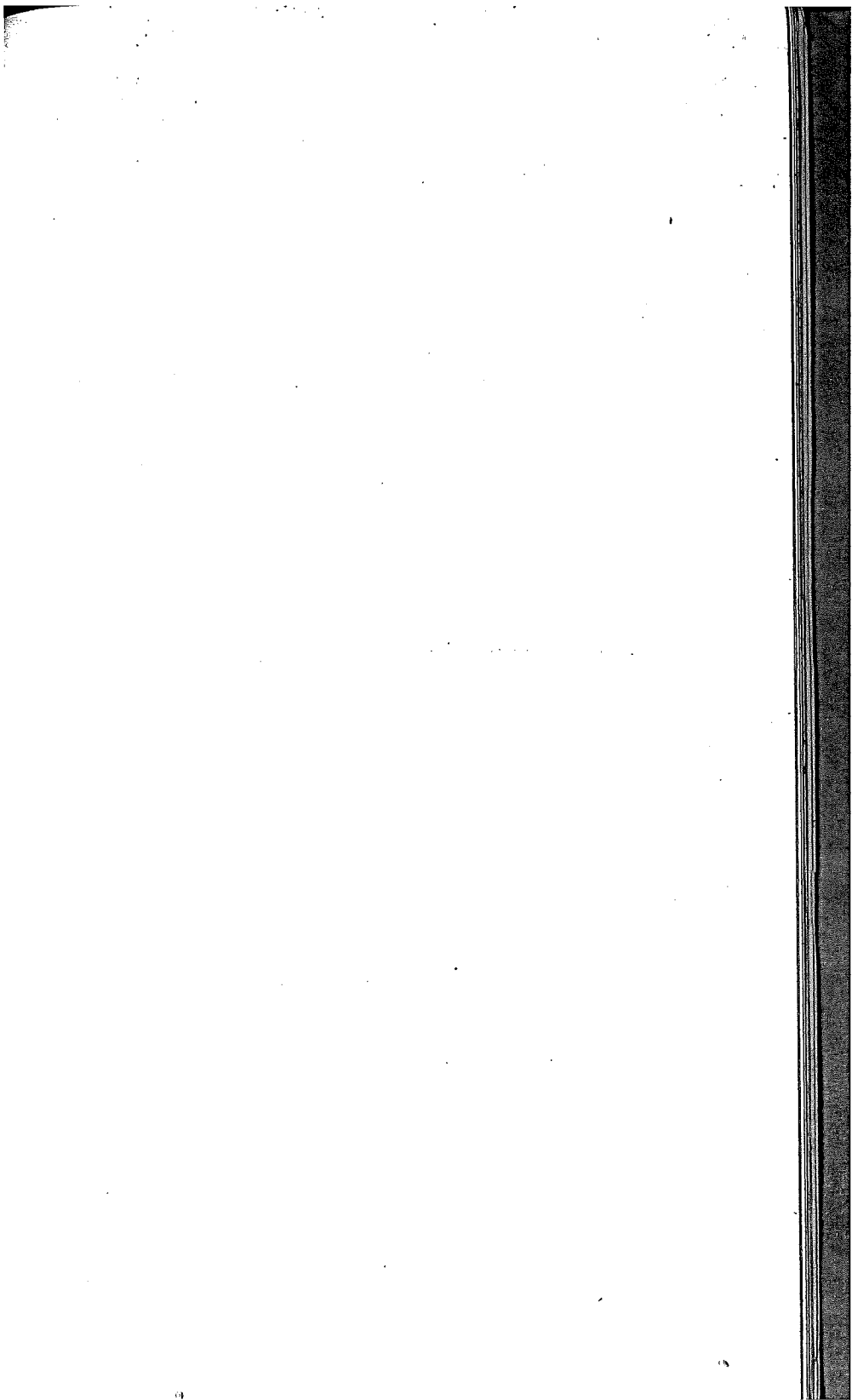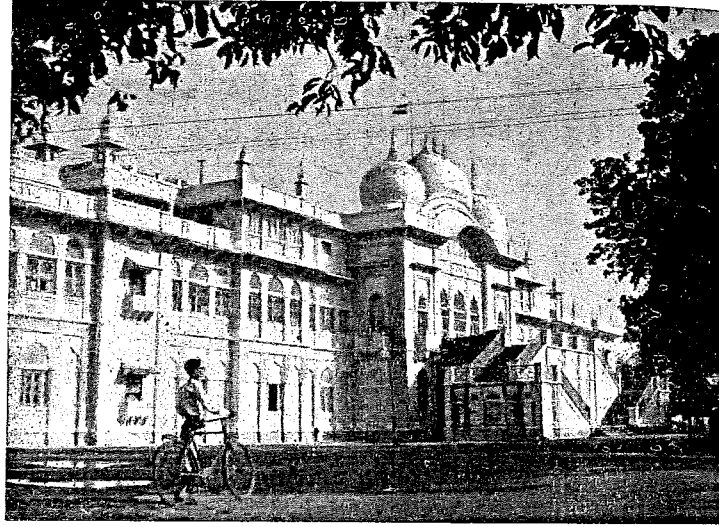
पैलेस कोठी
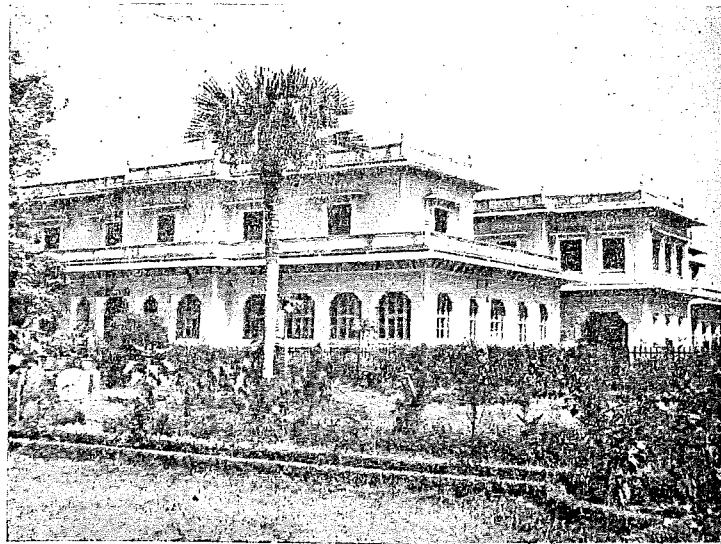
माधव कालेज

छोड़कर, और कोई नगर इतना समृद्धिशाली नहीं है। सन् १९२८ ई० में, ग्वालियर राज्य ने उज्जैन में एक "फ्री-गंज" स्थापित किया था जहाँ बाहर से माल आने पर "कस्टमस् ड्यूटी" नहीं ली जाती थी। इस 'फ्रीगंज' का नाम 'माधौनगर' भी है। कस्टमस् से मुक्ति के कारण यहाँ व्यापार बहुत बढ़ा और धीरे-धीरे एक नई बस्ती ही बस गई। नई-नई सड़कें, घंटाघर, पुलिस स्टेशन, बिजलीघर, टेलीफोन, पोस्ट आफिस इत्यादि यहाँ बनते चले गये। बंबई, पूना, इन्दौर, भोपाल, रतलाम, देवास, अलीगढ़, मथुरा इत्यादि के निवासियों ने यहाँ अपनी दूकानें खोलीं, एवं मकान बनवाये, और इस प्रकार नई-नई कोठियों एवं बँगलों की पंक्ति की पंक्ति बनती चली गईं। करोड़ों का माल यहाँ व्यापारी लाने लगे। तब से अब तक माधौनगर-फ्रीगंज ने पर्याप्त उन्नति की है। माधौनगर के अतिरिक्त, उज्जैन नगर में भी व्यापार की बड़ी भारी मंडी है। कपास, रुई, गेहूँ एवं अनाज की यहाँ भरमार है। सूती कपड़े बनाने के चार बड़े कारखाने (मिल्स) काम कर रहे हैं। एक कारखाना कृत्रिम रेशम बनाने का एवं एक होजियरी का सामान तैयार करने का है। कपास लोढ़ने के ९ (नौ) जिनिंग कारखाने और इतने ही गाँठें बाँधने (प्रेसिंग) के कारखाने हैं। इनके अतिरिक्त तेल निकालने के तीन कारखाने (आइल मिल्स); स्पिरिट बनाने के, रेजर ब्लेड बनाने के, कपड़ों की रँगाई व छपाई के, बर्फ बनाने के, कैमिकेल्स (रसायन) बनाने के, मशीन के पुर्जे (पार्टस्) बनाने के, हर प्रकार की धातुओं के काम तैयार करने के, ईंट व कबेलू (टाइल्स) बनाने के कारखानों के अतिरिक्त विद्युत् उत्पादन का भी कार्य यहाँ होता है।

छोटे धंधों में गुलाबजल तैयार करना, अगरबत्ती, धूप, सिन्दूर, गंध बनाना और चन्दन से तेल निकालना प्रसिद्ध है। अजवाइन से Thymol (थाईमल) भी यहाँ बनाया जाता है। भैरोंगढ़ के छीपों की छपाई प्रसिद्ध है। उज्जैन प्राचीन काल में भी सुगंधित द्रव्यों के लिए प्रसिद्ध था और आज भी है। भैरोंगढ़ जेल में निवाड़, कंबल, गलीचे इत्यादि बनाये जाते हैं। उज्जैन के कंघी एवं कंघा सुन्दर होते हैं। चन्दन की लकड़ी के बने कंघे तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इन कंघों को सिर में फेरने से स्वतः ही सिर में तेल लगता रहता है।

शिक्षा-संस्थाएँ

उज्जैन प्राचीन काल से प्रसिद्ध विद्यापीठ का स्थान रहा है। यहाँ सान्दीपन ऋषि ने भगवान् कृष्ण एवं बलराम तथा सुदामा को विद्या पढ़ाई थी। इसका

पौराणिक वृत्तान्त इस पुस्तक के तृतीय भाग के "श्री सान्दीपन मुनि" शीर्षक प्रथम लेख में मिलेगा। इस पुण्य-स्थान के अवशेष उज्जैन में अब भी "अंकपात" के नाम से सुरक्षित हैं। यहीं पर भगवान् कृष्ण अंकपट्टी पर लिखना सीखे थे और यहीं अपनी छात्रावस्था व्यतीत की थी। बौद्धकाल में भी यहाँ का विद्यापीठ प्रसिद्ध रहा था। पाली ग्रंथों से पता चलता है कि कुमार महेन्द्र एवं कुमारी संघमित्रा जब लंका में गये तब उनके साथ उज्जैन विद्यापीठ के सैकड़ों छात्र बौद्ध-धर्म प्रचारार्थ गये थे। राजशेखर के अनुसार, उज्जैन में काव्यकार परीक्षा होती थी और कालिदास, भर्तृमेंठ, आर्यसूर, साहसांक प्रभृति विद्वान् यहीं परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे। यहाँ के प्राचीन मन्दिरों में कई जगह, अब भी संस्कृत भाषा एवं ज्योतिष का अध्ययन-अध्यापन पुराने ढंग से ही होता है। संस्कृत भाषा की शिक्षा के लिए एक शासकीय एवं एक अशासकीय पाठशालाएँ प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक उच्च शिक्षा के लिए यहाँ माधौ कालेज है जिसमें बी० ए०; बी० एस० सी० और एल० एल० बी० की डिगरियों के लिए छात्र तैयार किये जाते हैं। अभी हाल में कई विषयों में एम० ए० की भी पढ़ाई होने लगी है। इसके अतिरिक्त दो लड़कों के हाईस्कूल एवं एक कन्याओं का हाईस्कूल है। कन्याओं के लिए एक प्रशिक्षण विद्यालय (नार्मल स्कूल) भी है। लड़कों के लिए नगर में ८ माध्यमिक पाठशालाएँ एवं कन्याओं के लिए ६ माध्यमिक पाठशालाएँ कार्य कर रही हैं।

मध्यभारत शिक्षा-विभाग के अधीन उज्जैन की दो विशेष संस्थाएँ भी हैं :—

प्रथम यहाँ की **वेधशाला** है। यह सवाई महाराज जयसिंह जी द्वितीय ने १७३० ई० के पूर्व बनवाई थी। इसके पहले हमने 'वेधशाला के निर्माणकर्त्ता' शीर्षक से विस्तृत ऐतिहासिक विवरण दिया है। स्वर्गीय माधौ महाराज के आदेशानुसार, सन् १९२३ ई० में जयपुर के विद्वान् पंडित गोकुलचन्द्र जी भावन बुलवाए गए थे और उनके निर्देश के अनुसार इस वेधशाला का पुनर्जीवन हुआ। भारतीय ज्योतिष में उज्जैन होकर ही विषुवत्-वृत्त रेखा (शून्य रेखा) लंका से सुमेरु पर्वत जाती मानी गई है। उज्जैन में प्राचीन-काल से ज्योतिष के बड़े दिग्गज विद्वान् रहते आये हैं। वराहमिहिर ने यहीं अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों की रचना की थी। सवाई महाराज जयसिंह जी के काल में पंडित जगन्नाथ जी ने यहीं प्रसिद्धि पाई। अर्वाचीन काल में भारत-विख्यात पंडित नारायण जी व्यास (पं० सूर्यनारायण जी व्यास के पिता) ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। इस समय इस वेधशाला में पाँच यंत्र हैं। सबसे बड़ा **सम्राट् यंत्र** है। इससे रवि-चन्द्रादि ग्रहों के नतकाल व क्रान्ति का ज्ञान
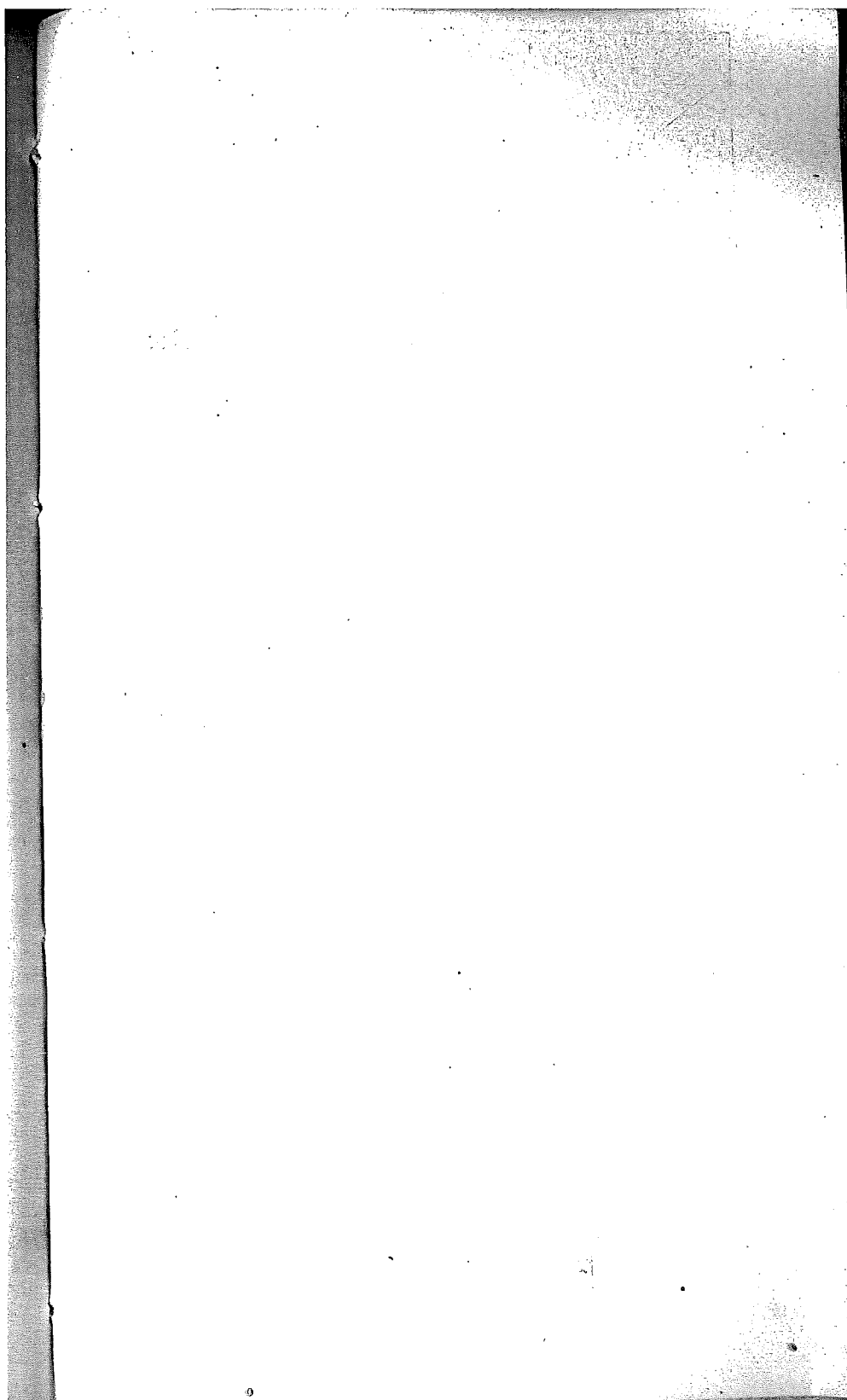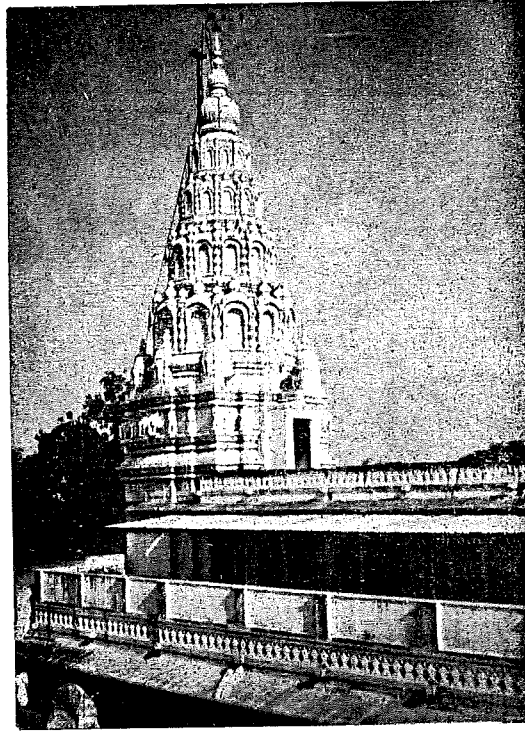
गोपालमन्दिर
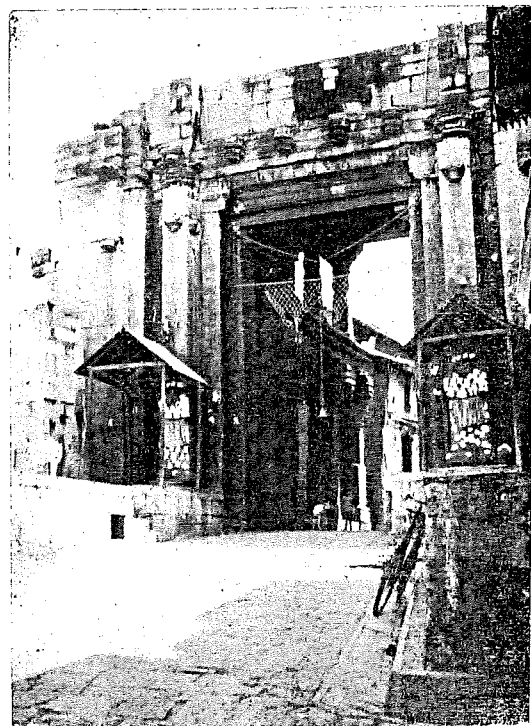
चौबीस खम्भा

होता है। छाया द्वारा समय का ज्ञान भी होता है। दूसरा यंत्र **नाड़ीवलय यंत्र** है। इससे यह निश्चित होता है कि वेध्य ग्रह उत्तर गोलार्द्ध में है या दक्षिण गोलार्द्ध में। छायार्क द्वारा स्थूल स्पष्ट काल भी मालूम होता है। तीसरा यंत्र **भित्तियंत्र** कहलाता है। इससे माध्याह्नकालीन सूर्य के नतांश एवं अन्य ग्रहों के म्योत्तर कालीन नतांश मालूम होते हैं। ग्रहों की क्रान्ति एवं उनकी वक्री मार्गी गति का भी पता चलता है। चतुर्थ यंत्र **शंकुयंत्र** है। इससे रवि चन्द्र के दिगंश व उन्नतांश का ज्ञान होता है। यह यंत्र नया है। पाँचवाँ यंत्र **दिगंश यंत्र** है। इससे दिगंश का ज्ञान होता है। तिथि के वेध लेने में भी इस यंत्र का उपयोग होता है। सन् १९३६ ई० तक इस वेधशाला के अध्यक्ष स्वर्गीय रा० सा० गोविन्द सदाशिव आप्टे महोदय, गणक चूड़ामणि, एम० ए०; बी० एस० सी० रहे। आपके मौलिक ग्रंथ 'सर्वानन्दकरण', 'सर्वानन्द लाघव' एवं 'पंचांग चिन्तामणि' तथा 'ग्रह-चिन्तामणि' अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

दूसरी विशेष संस्था **सिंधिया ओरियंटल इंस्टीट्यूट (सिंधिया प्राच्यग्रंथ संग्रहालय)** है जिसमें प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह और प्रकाशित किये जाते हैं। इस संग्रह को देखने बहुत से विद्वान् प्रतिवर्ष उज्जैन आया करते हैं। कतिपय हस्तलिखित ग्रंथ भारत की विख्यात प्राच्य संस्थाएँ भी उधार मँगाती रहती हैं। हस्तलिखित ग्रंथों की संख्या इस समय साढ़े नौ हजार (९,५००) के लगभग पहुँच चुकी है। जिसमें कई हस्तलिखित ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मुद्रित संदर्भ ग्रंथों की संख्या भी लगभग २,५०० हैं। प्राच्य संशोधन एवं लेख प्रकाशन का काम यहाँ बराबर चालू रहता है। अभी तक एक मराठी ग्रंथ (चांगदेव वटेश्वर का 'तत्त्वसार') एवं तीन संस्कृत ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। ये तीन ग्रंथ, भट्ट देवशंकरकृत "अलंकार मंजूषा", नीलकण्ठकृत "शास्त्र तत्त्व विनिर्णय" एवं 'प्राचीन जैन स्तोत्र' हैं। भवानीकृत 'अविमुक्त तत्वम्' भी प्रकाशित होनेवाला है। पंचवर्षीय योजना में १००), १००) मास की पाँच 'रिसर्च' छात्रवृत्तियों का आयोजन किया गया है तथा दो 'रिसर्च' प्रोफेसरों की भी नियुक्ति होनेवाली है।

उज्जैन के मंदिर

उज्जैन प्रसिद्ध तीर्थस्थान है जिसके धार्मिक महत्त्व के सम्बन्ध में एक स्वतंत्र लेख हम लिख चुके हैं। क्षिप्रा के घाटों में रामघाट, मंगलनाथ का घाट एवं सिद्धवट प्रसिद्ध हैं। भैरवगढ़ के पूर्व में क्षिप्रा तट पर **सिद्धवट** का स्थान है। जिस प्रकार प्रयाग में अक्षयवट है एवं नासिक में पंचवट है उसी प्रकार उज्जैन में यह स्थान है। इसके निकट क्षिप्रा की धारा "पापमोचन-तीर्थ"

कहलाती हैं। मन्दिरों में **श्री महाकालेश्वर का मंदिर** सर्व-प्रमुख है। इस मन्दिर का वर्णन महाभारत एवं पुराणों में मिलता है। कालिदास ने रघुवंश एवं मेघदूत में इसका उल्लेख किया है। सुल्तान अल्तमश ने सन् १२६५ ई० में उज्जैन के हमले में इस मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। राणोजी सिंधिया के दीवान रामचन्द्र शैणवी ने महाकालेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार किया और महाराज महादजी सिंधिया ने महाकालेश्वर की पूजा व्यवस्था निर्धारित की। मन्दिर का प्रांगण विशाल है। इसमें ओंकारेश्वर जी का मन्दिर है और आस-पास स्वप्नेश्वर, बदरीनारायण जी, नृसिंह जी, साक्षी गोपाल तथा अनादिकालेश्वर के भी मन्दिर हैं। दक्षिण दिशा में वृद्धकालेश्वर एवं सप्तऋषि के मन्दिर हैं। पूर्व में बड़े बराण्डों में पुरातत्त्व विभाग ने कुछ प्राचीन ऐतिहासिक मूर्त्तियाँ एकत्रित की हैं। महाकालेश्वर के लिंग के ऊपर के मंजिल पर ओंकारेश्वर विराजमान हैं। वहाँ से नीचे की ओर एक छोटा झरोखा है जिससे यात्रियों को ऊपर से महाकालेश्वर के दर्शन हो जाते हैं। प्रांगण से सीढ़ियों द्वारा सभामंडप में उतरा जाता है। सभामंडप के सामने एक बड़ा भारी पक्का कुंड है जो 'कोटितीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है। सभामंडप में एक राममन्दिर भी है और इन राम जी के पीछे अवन्तिका देवी की प्रतिमा है जो उज्जैन नगर की अधिष्ठात्री देवी हैं। कोटितीर्थ के दूसरे पार एक धर्मशाला भी है जिसमें अब एक संस्कृत विद्यालय है जो वेद, व्याकरण एवं ज्योतिष के उच्च अध्यापन कार्य के लिए प्रसिद्ध है।

मन्दिर के अन्दर एक तंग गुहा-गृह द्वार से जाना पड़ता है। एक दूसरा द्वार निकलने की योजना सफल नहीं हो पाई। महाशिवरात्रि को यात्रियों की जिस भीड़ का सामना करना पड़ता है उसको देखकर यह उचित प्रतीत होता था कि एक द्वार से यात्री भीतर जावें और दूसरे द्वार से बाहर निकल जावें। कई विशेषज्ञ इंजीनियरों से सलाह ली गई थी किन्तु इमारत पुरानी होने के कारण दूसरा द्वार खोलने में खतरा होने से दूसरा द्वार नहीं खुल सका। अतएव भक्त एवं यात्रियों के लिए आने एवं जाने के लिए एक ही द्वार है। द्वार के बाहर दक्षिण की ओर विशाल नन्दिकेश्वर की पाषाण-प्रतिमा धातुपत्रवेष्टित है। भगवान् शिव दक्षिण मूर्त्ति हैं। लिंग विशाल है और नागवेष्टित जलाधारी में विराजमान हैं। महाकाल के सम्मुख दो नन्दादीप (एक घृत का एवं दूसरा तेल का) निरन्तर प्रज्वलित रहते हैं। मन्दिर में धवल पाषाण जड़ा हुआ है। मन्दिर के अन्दर, पश्चिम की ओर गणेश जी, उत्तर की ओर माता पार्वती जी और पूर्व में कार्त्तिकेय की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। महाकाल की दिन में तीन बार (त्रिकाल) पूजा होती है। प्रातःकाल
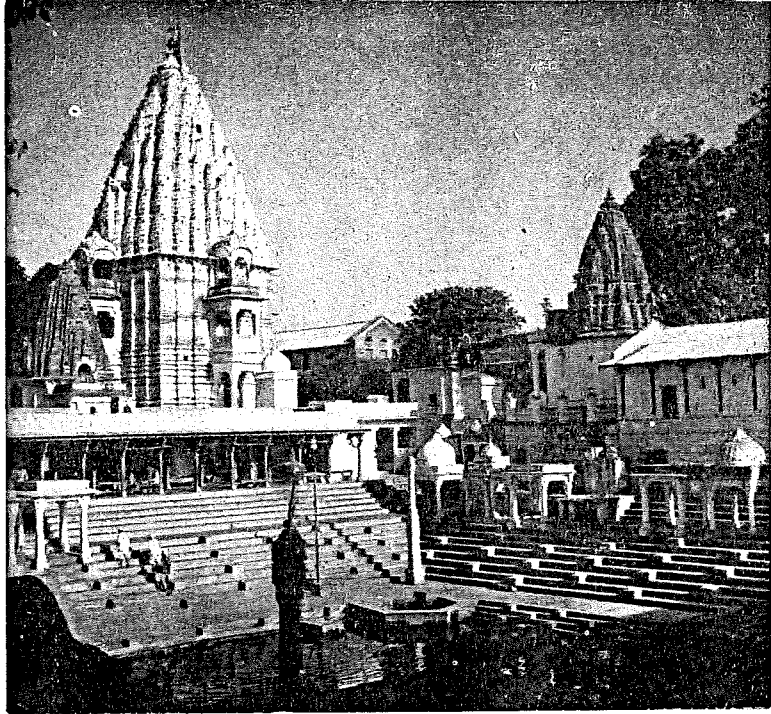
श्री महाकालेश्वर मन्दिर का कोटितीर्थ
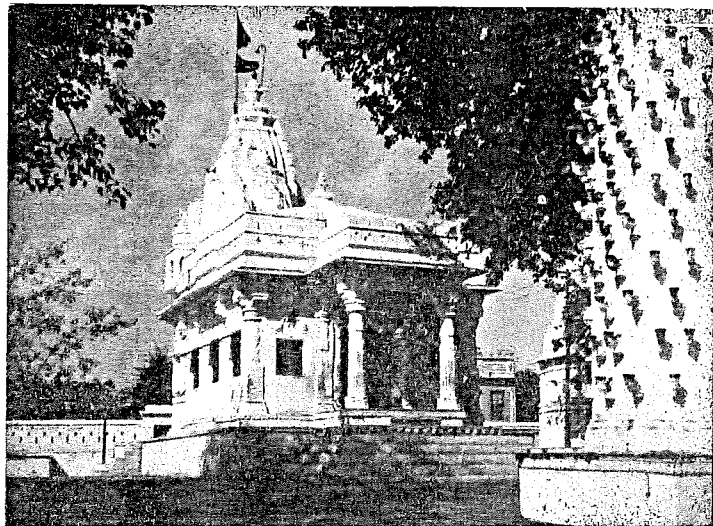
हरसिद्धि देवी का मन्दिर
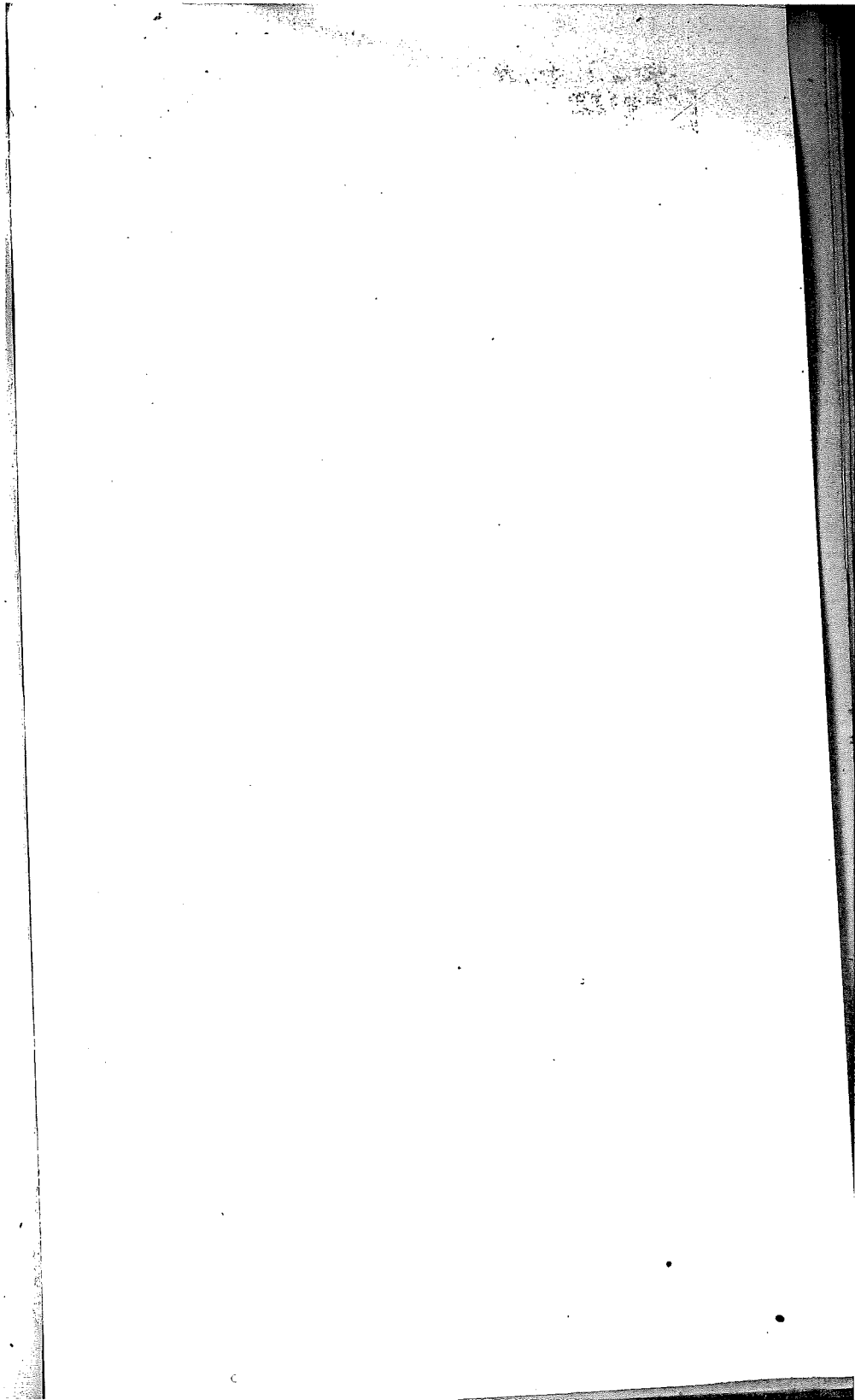
में चिता-भस्म पूजा, मध्यान्ह में महापूजा और संध्या में प्रदोष पूजा होती है। मन्दिर के उच्च शिखर पर अब विद्युद्दीप भी लगाये जा चके हैं जिनके प्रकाशित होने पर सारा प्रांगण ही जगमगा उठता है।

हरसिद्धि देवी का मन्दिर—महाकाल के मन्दिर के पीछे रुद्रसागर है और उसके तट पर हरसिद्धि देवी का मन्दिर है। हरसिद्धि देवी महाराज विक्रमादित्य की आराध्यदेवी बताई जाती है। कहा जाता है कि विक्रमादित्य यहीं घोर तपस्या करते थे और बारह वर्ष में एक बार अपना मस्तक काटकर देवी के चरणों पर चढ़ा देते थे। देवी प्रसन्न होकर नवीन मस्तक दे देती थी। बारहवीं बार जब आत्म-बलिदान किया तब फिर नवीन मस्तक नहीं आया और उनका शासनकाल समाप्त हो गया। मन्दिर के सामने दो भव्य दीपस्तंभ हैं। इन स्तंभों पर लगभग ७२६ दीप लगते हैं। नवरात्रि के दिनों में उन पर पाँच दिन दीपमालिका लगाई जाती हैं। मन्दिर के पूर्व की ओर के दरवाजे पर एक सुन्दर काँच का बँगला है। उसके निकट एक बड़ा बट-वृक्ष व एक गुफा है। दक्षिण की तरफ महाकालेश्वर के जाने का मार्ग है। पश्चिम की ओर अगस्तेश्वर व क्षिप्रा की ओर जाने का मार्ग है। उत्तर की ओर का द्वार मन्दिर का मुख्य द्वार है। प्राचीन काल में बताया जाता है चण्डीदेवी ने मदोन्मत्त चण्ड एवं प्रचण्ड राक्षसों का वध किया था तब शंकरजी ने कहा "हे चण्डि, तुम हरसिद्धि नाम से प्रसिद्ध होगी" तभी से महाकालवन में हरसिद्धि विराजमान हैं। यह मन्दिर चारों ओर से ऊँची दीवारों से घिरा हुआ है और चारों दिशाओं में चार द्वार हैं। मन्दिर के गर्भगृह में सिंहासन पर एक श्रीयंत्र बना हुआ ह और इसी को हरसिद्धि कहते हैं। इसी स्थान के पीछे अन्नपूर्णा देवी की सुन्दर प्रतिमा विराजमान है। हरसिद्धि देवी की कोई प्रतिमा नहीं है। नगर के रक्षणार्थ चौंसठ देवियों का अखण्ड पहरा रहता है जिनको चौंसठ योगिनी कहते हैं। हरसिद्धि देवी इन चौंसठ में प्रमुख हैं।

अगस्तेश्वर का मन्दिर—हरसिद्धि देवी के मन्दिर के पीछे यह एक बहुत प्राचीन मन्दिर है।

श्री महाकाली का मन्दिर—उज्जैन नगर के बाहर एक मील की दूरी पर यह एक प्राचीन मन्दिर बना हुआ है। इस मन्दिर का जीर्णोद्धार श्रीहर्ष ने ६०६ से ६४८ ई० सन् में कराया था। यह मन्दिर 'गढ़कालिका' का मन्दिर कहलाता है। ९, १० वर्ष पूर्व इसका फिर जीर्णोद्धार हुआ था। यह भी कहा जाता है कि कालिदास की यही कालिका आराध्य देवी थी और इन्हीं देवी की उग्र तपस्या से कालिदास को काव्य-प्रतिभा प्राप्त हुई थी।

कालभैरव का मन्दिर—पुरातन उज्जयिनी के, भैरवगढ़ क्षेत्र में, आधुनिक नगर से तीन मील के अन्तर पर क्षिप्रा नदी के उत्तर तट पर कालभैरव का विशाल मन्दिर बना हुआ है। पुराणों के अष्ट भैरवों में कालभैरव प्रमुख हैं। यह मन्दिर प्राचीन काल में राजा भद्रसेन का बनाया बताया जाता है। भैरवाष्टमी को यात्रा होती है और भैरवजी की सवारी निकलती है। पास में ही एक पुराना किला है। सम्राट् अशोक ने यहीं कारागृह बनवाया था और यहीं भैरवगढ़ जेल आजकल है। यह मालवा का प्रमुख जेल है।

मंगलनाथ का मन्दिर—पुराणों में मंगलग्रह की जन्मभूमि अवन्ति मानी गई है। अंकपात के निकट क्षिप्रा तट के एक टीले पर मंगलनाथ का मन्दिर है। हर मंगलवार को यहाँ पूजन होता है। मंगलग्रह की शिव के रूप में ही पूजा होती है। यह महादेव चौरासी महादेवों में से तैंतालीसवें हैं। जो लोग पंच-क्रोशी को जाते हैं वे अष्टतीर्थ की यात्रा करके यहीं आते हैं। यहाँ से फिर उनके कुटुम्ब के लोग अपने घर ले जाते हैं। इसके निकट सरदार किबे साहब का बनाया हुआ गंगाघाट भी है।

चिन्तामणि गणपति का मन्दिर—यह मन्दिर महारानी अहल्याबाई ने बनवाया था। क्षिप्रा नदी के पार लगभग तीन मील की दूरी पर फतेहाबाद चन्द्रावतीगंज जानेवाली रेल-पथ पर बनाया हुआ है। गणपति की प्रतिमा को स्वयंभू बतलाते हैं। मूर्ति बहुत भव्य है।

गोपाल मन्दिर—यह मन्दिर नगर के बीच में बड़े चौक के सामने है। महाराज दौलतराव शिन्दे की महारानी बायजाबाई ने मन्दिर बनवाकर श्री गोपाल कृष्ण की मूर्ति स्थापित की थी। मन्दिर का गर्भगृह और ऊपर का शिखर संगमरमर का है। उसका द्वार तथा अन्दर के द्वार चाँदी के पत्रों से मढ़े हुए हैं। बाहर के किवाड़ चाँदी के चौखट में जड़े हुए हैं। मन्दिर में रत्नजड़ित एक द्वार है। ग्वालियर राज्य से ४,०००) रु० वार्षिक नेमनूक इस मन्दिर को मिला करता था।

श्री बड़े गणेशजी का मन्दिर—महाकालेश्वर के निकट एक भव्य मूर्त्ति गणेशजी की बनाई गई है। इतनी बड़ी एवं विशाल मूर्त्ति भारत में मिलना दुर्लभ है। भारतविख्यात पं० नारायणजी व्यास ने इस मूर्त्ति को बनवाया था। गणेशजी से लगा हुआ पंचमुखी हनूमानजी का मन्दिर है। हनूमानजी की मूर्त्ति सप्त धातुमयी है और संगमरमर से बने हुए कच्छप शेष एवं कमल शेष के सुन्दर पीठ पर विराजमान है। आकाश के कक्षा क्रम से यहाँ नवग्रह भी स्थापित हैं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० चिन्तामणि विनायक वैद्य की सलाह से यह मन्दिर बनाया गया था।
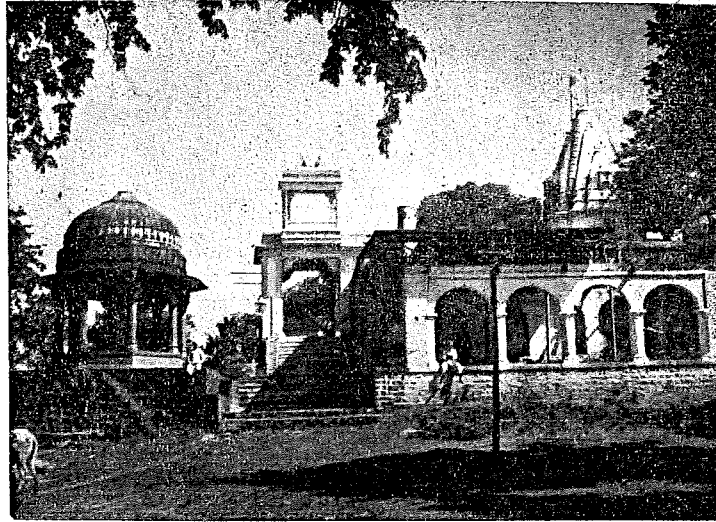
मंगलनाथ का मन्दिर
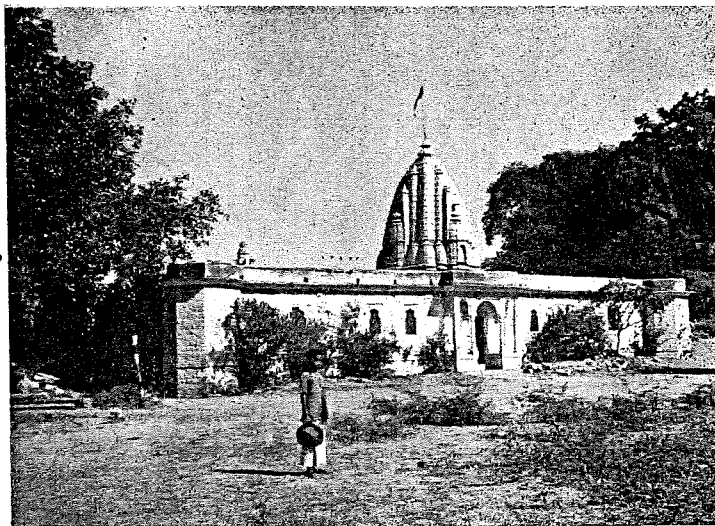
गढ़ कालिका
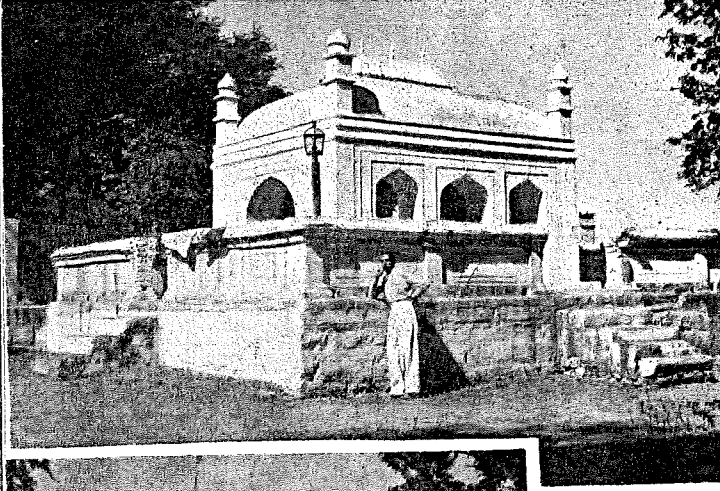
पीर मच्छन्द
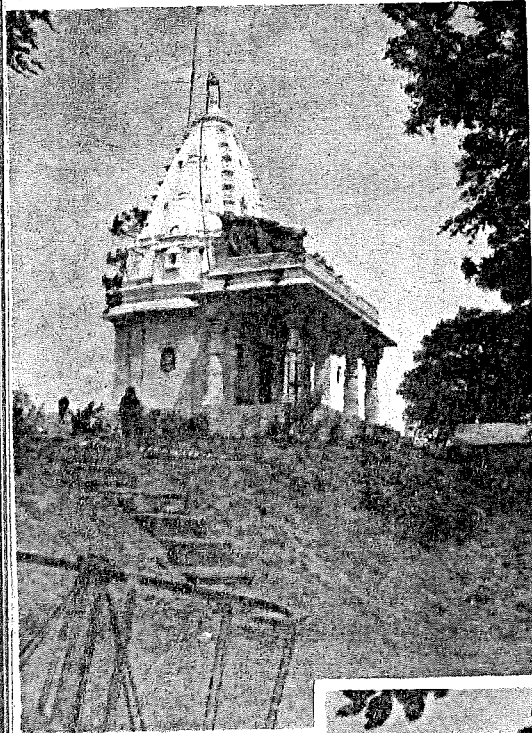
मोनेश्वर टेकरी
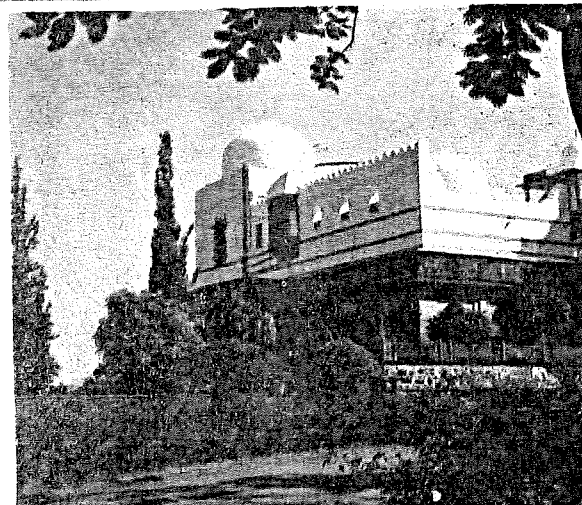
कालियादह महल

इनके अतिरिक्त और भी अनेकानेक मन्दिर उज्जैन में हैं; यथा अगिया बेताल का मन्दिर, द्वारिकाधीश का मन्दिर, सत्यनारायण का मन्दिर, अष्टेवाले का मन्दिर, खातियों का जगदीश मन्दिर, राममन्दिर सर्राफा इत्यादि।

अन्य दर्शनीय स्थान

(१) भर्तृहरि की गुफा—उज्जैन के उत्तर एक मील क्षिप्रा नदी के तट पर यह गुफा है। यह मूल में जैनों का विहार अथवा शिवालय रहा होगा। उसके अनन्तर नाथ संप्रदायवालों का अधिकार हुआ होगा ऐसा अनुमान है। भर्तृहरि की समाधि ऐतिहासिक एवं बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होती।

(२) पीर मछन्दरनाथ—भर्तृहरि की गुफा के पास और गढ़ कालिका के मन्दिर से थोड़ी दूर मत्स्येन्द्रनाथ का स्थान बड़ा शान्त एवं रम्य है।

(३) दत्त का अखाड़ा—गुसाइयों की जमातें जब सिंहस्थ के समय उज्जैन में क्षिप्रा स्नान के लिए ठहरती हैं वहाँ इनका जो स्थान है उसे दत्त का अखाड़ा कहते हैं। अब यह एक छोटी गढ़ी के रूप में, चारों ओर ऊँचे कोट से घिरी हुई सुन्दर इमारत के रूप में हैं। एक बड़ी पशुशाला एवं कृषिशाला भी इनके अधिकार में है। एक सुन्दर छोटे मन्दिर में भगवान् दत्तात्रेय के चरण चिह्न अंकित हैं। मुख्य मठाधीश संध्यापुरी जी के निरीक्षण में यहाँ का प्रबन्ध बड़े सुचारु रूप से चल रहा है।

(४) कालियादह महल—उज्जैन स्टेशन से लगभग छः मील उत्तर में यह महल स्थित है। पहले यहाँ सूर्यकुण्ड एवं सूर्यनारायण का मन्दिर था। सोलहवीं शताब्दी ईसवी में मांडू के सुलतान नासिरुद्दीन खिलजी ने मन्दिर को तुड़वाकर एक महल अपने विलास एवं कामकेलि के लिए बनवाया था जो कालियादह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सुलतान ने पारे का भक्षण किया था एवं उष्णता से पीड़ित होने के कारण जल में रहना ही उसको प्रिय हो गया था और अन्त में जलस्नान के अनन्तर ही बेहोशी के कारण उसका देहावसान हुआ। क्षिप्रा नदी की शाखाएँ महल के सामने लाई गई हैं और घुमा-फिराकर यही शाखाएँ क्षिप्रा में मिल जाती हैं। महल एवं कुण्ड के अतिरिक्त एक कृत्रिम जलप्रपात भी है जिसके कारण यहाँ की शोभा अवर्णनीय हो गई है। बादशाह अकबर एवं जहाँगीर भी यहाँ रहे थे। ग्वालियर के स्वर्गीय माधौराव महाराज सिंधिया ने इस महल को आधुनिक सजावट से सुसज्जित किया था।

(५) वीर दुर्गादास की छत्री—जोधपुर के राठौर वंशीय वीर दुर्गादास का देहावसान उज्जैन में हुआ था और क्षिप्रा नदी के तीर पर, स्मशान के पास, एक टीले पर उनकी छत्री बनी हुई है।

(६) **पैलेस कोठी**—सन् १८९५ में यह महल स्वर्गीय माधौ महाराज (माधवराव सिंधिया) ने अपने रहने के लिए बनवाया था। अब इसमें सरकारी कार्यालय हैं। यह सुन्दर प्रासाद देखने योग्य है।

(७) **बिना नींव की मस्जिद**—यह मस्जिद अनन्तपेठ में एक जैन मन्दिर को तोड़कर सन् १३९७ ई० में मालवे के सूबेदार दिलावर खान गोरी ने बनवाई थी।

(८) **ख्वाजा शकेब की मस्जिद**—एक सूबेदार ने मुगलकाल में बनवाई थी। मुसलमान-काल की शिल्पकला का अच्छा नमूना है।

(९) **बोहरों का मकबरा**—उज्जैन में बोहरों की बस्ती बहुत है। उनके धर्माध्यक्ष (बड़े मुल्ला जी) के प्रतिनिधि यहाँ रहते हैं। यह मकबरा उनके विशेष अधिकारी पुरुषों की कबरों पर बना हुआ है। यह मकबरा सुन्दर इमारत है।

अनुक्रमणिका